55/1

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष-55, किरण-1
जनवरी-मार्च 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-
वार्षिक शुल्क 30/-
इस अक का मूल्य 10/-
सदस्यो व मंदिरो के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

श्री महावीर-स्तवन

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम्। मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते॥
जगत्रैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं, यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां, समीक्ष्यैतद्द्वारं तवगुण कथोत्कावयमपि॥
नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि ना, ऽप्यवेत्सीर्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत! वेद्यमस्ति।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं, पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम्॥

दूरामाप्तं यदचिन्त्य-भूतिज्ञानंत्वया जन्मजराऽन्तकर्तृ।
तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ! लोकोत्तमतामुपेतः॥

क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रियाविहीनं च विबोधसंपदम्।
निरस्यता क्लेशसमूह-शान्तये त्वया शिवाया लिखितेव पद्धतिः॥
य एव षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढ पथस्त्वयोदितः।
अनेक सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदय सोत्सवाः स्थिताः॥

-सिद्धसेनाचार्यः

अर्थ-जिनकी प्रशान्त मूर्ति के दर्शन मात्र से समस्त प्राणी अभय प्राप्त करते हैं, वह भगवान् प्रशस्त मगलरूप एवं कल्याणमयी शोभायमान हैं।

अखिल विश्व के अनन्त विषय और उनकी समस्त पर्यायें जिसके प्रत्यक्ष हैं, अन्य किसी को नहीं, और प्रकृति-रस-सिद्धविद्वानों के लिए भी जो अचिन्त्य है, ऐसे उक्त सर्वज्ञद्वार की समीक्षा करके मैं आपका गुणगान करने को उत्सुक हुआ हूँ।

विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी अनेक अनन्त पर्यायो सहित आप को युगपत् प्रत्यक्ष हैं, हे भगवान् अच्युत! आपको नमस्कार हो !

हे सर्वान्सर्वज्ञ ! कठिनाई से प्राप्त होने वाली अचिन्त्य तत्त्वज्ञान द्वारा आपने जन्म-जरा-मृत्यु को जीत कर लोक को अभिभूत किया और लोकोत्तमता प्राप्त की।

हे प्रभु ! आपके सन्मार्ग में सम्यग्ज्ञानरहित क्रिया को तथा क्रियाविहीन ज्ञान को क्लेश समूह की शान्ति और शिवप्राप्ति के अर्थ निष्फल बताया है।

हे वीर जिन ! छः काय के जीवों का जो विस्तार आपने प्रतिपादित किया है, वैसा कोई अन्य नहीं कर सका। अतएव जो लोग सर्वज्ञत्व की परीक्षा करने में समर्थ हैं, वे बड़े प्रसन्न चित्त से आपके भक्त बने हैं।

क्या शुभ भाव जैन धर्म नहीं?

-आचार्य पं. जुगलकिशोर मुख्तार

श्री कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन लेखमें आचार्य कुन्दकुन्द के भावप्राभृत की गाथा को उद्धृत करके यह बतलाने की चेष्टा की है कि जिनशासन में पूजादिक तथा व्रतों के अनुष्ठान को 'धर्म' नहीं कहा है, किन्तु 'पुण्य' कहा है, धर्म दूसरी चीज है और वह मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है:-

प्राकृत विद्या के अक्टूबर-दिसम्बर २००१ के अंक में 'अनेकान्त' से साभार उद्धृत करते हुए डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का एक लेख 'भारत वर्ष का एक प्राचीन विश्वविद्यालय' प्रकाशित हुआ है, एतदर्थ 'प्राकृत विद्या' के सम्पादक के प्रति आभार। सम्पादक महोदय ने अपेक्षा की है कि 'अनेकान्त के प्राचीन अंको में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री का पुनर्प्रकाशन करें। हम उन्हें साधुवाद देते हुए उनके इस सत्परामर्श पर, इसी अंक में वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक आचार्य पं. श्री जुगल किशोर जी मुख्तार साहब का एक लेख प्रकाशित कर रहे हैं, जो अनेकान्त वर्ष १३ किरण १, जुलाइ १९५४ में प्रकाशित हुआ था, जो आज भी सामयिक है। आशा है, प्राकृत विद्या के विद्वान् सम्पादक और अध्येता-पाठकों को यह लेख रुचिकर प्रतीत होगा।

श्री मुख्तार साहब ने नवम्बर १९५३ (वर्ष १२ किरण ६) में सम्पादकीय आलेख -'समयसार की १५वीं गाथा और श्री कानजी स्वामी' में श्री कानजी स्वामी के एक प्रवचन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- ''सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्त की ओर ढला है, प्राय: एकान्त मिथ्यात्व को पुष्ट करता है और जिनशासन के स्वरूप के विषय में लोगों को गुमराह करने वाला है। आगे इसी कड़ी में अनेकान्त के जनवरी १९५४ (वर्ष १२ किरण ८) में उन्होंने निष्कर्ष रूप में लिखा है-

''अत: कानजी स्वामी का 'वीतरागता ही जैनधर्म है' इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनय के वक्तव्य का विरोधी है, वचनानय के दोष से दूषित है और जिनशासन के साथ उसकी संगति ठीक नही बैठती।''

-सम्पादक

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥ ८३॥

इस गाथा में पूजा-दान-व्रतादिक के धर्ममय होने का कोई निषेध नहीं, 'पुण्णं' पद के द्वारा उन्हें पुण्य प्रसाधक धर्म के रूप में उल्लेखित किया गया है। धर्म दो प्रकारका होता है- एक वह जो शुभ भावों के द्वारा पुण्य का प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्ध भावों के द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के कर्मास्रव का कारण नहीं होता। प्रस्तुत गाथा में दोनों प्रकार के धर्मों का उल्लेख है। यदि श्री कुन्द-कुन्दाचार्यकी दृष्टि में पूजा दान व्रतादिक धर्म कार्य न होते तो वे रयणसार की निम्न गाथा में दान तथा पूजा की श्रावकों का मुख्य धर्म और ध्यान तथा अध्ययन को मुनियों का मुख्य धर्म न बतलाते-

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि॥११॥

और न चारित्रप्राभृत की निम्नगाथा में अहिंसादिव्रतों के अनुष्ठानरूप संयमाचरण को श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म का नाम ही देते-

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे॥२६॥

उन्होंने तो चारित्रप्राभृत के अन्त में सम्यक्त्व-सहित इन दोनों धर्मों का फल अपुनर्भव (मुक्त-सिद्ध) होना लिखा है। तब वे दान-पूजा-व्रतादिक को धर्म की कोटि से अलग कैसे रख सकते हैं? यह सहज ही समझा जा सकता है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार) में 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु:' इस वाक्य के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को वह समीचीन धर्म बतलाया। जिसे धर्म के ईश्वर तीर्थंकरादिकों ने निर्दिष्ट किया है, उस धर्म की व्याख्या करते हुए सम्यक्चारित्र के वर्णनमें 'वैयावृत्त्य' को शिक्षाव्रतों में अन्तर्भूत धर्म का एक अंग बतलाया है, जिसमें दान तथा संयमियों की अन्य सब सेवा और देव-पूजा ये तीनों शमिल हैं; जैसा कि उक्त ग्रन्थ के निम्न वाक्यों से प्रकट है:-

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी दोनों प्रकार के श्रमणों (मुनियों) को जैन-धर्म-सम्मत माना है। जिनमें से एक अनास्रवी और दूसरा सास्रवी होता है, अर्हन्तादि में भक्ति और प्रवचनाभियुक्तों में वत्सलता को मुनियों की शुभचर्या बतलाया है; शुद्धोपयोगी श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्करण, अभ्युत्थान और अनुगमन द्वारा आदर-सत्कार की प्रवृत्ति को, जो सब शुद्धात्मवृत्ति के संत्राण की निमित्त-भूत होती है सरागचारित्र की दशा में मुनियों की चर्या में सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपदेश, शिष्यों के ग्रहण-पोषण और जिनेन्द्र पूजा के उपदेश को भी विहित बतलाया है; साथ ही यह भी बतलाया है कि जो मुनि काय-विराधना से रहित हुआ नित्य ही चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का उपकार करता है वह प्रधानता को लिए हुए श्रमण होता है, परन्तु वैयावृत्त्य में उद्यमी हुआ मुनि यदि काय-खेद को धारण करता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ (श्रावक) बन जाता है; क्योंकि उस रूप में वैयावृत्त्य करना श्रावकों का धर्म है; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओं से प्रकट है:-

समण सुद्धुवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुमजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥३-४५॥
अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥४६॥
वंदण-णमंसरेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावण ओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि॥४७॥
दंसण-णाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥ ४८॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स
कायविराधणरहिंदं सो वि सरागप्पधाणो सो॥४९॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जाविज्जत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि, हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥५०॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के इन वचनों से स्पष्ट है कि जैन-धर्म या जिनशासन से शुभ भावों को अलग नहीं किया जा सकता और न मुनियों तथा श्रावकों

के सरागचारित्र को ही उससे पृथक् किया जा सकता है। ये सब उसके अंग हैं, अंगों से हीन अंगी अधूरा या लेडूरा होता है, तब कानजी स्वामी का उक्त कथन जिनशासन के दृष्टिकोण से कितना बहिर्भूत एवं विरुद्ध है उसे बतलाने की जरूरत नहीं रहती। खेद है उन्होंने पूजा-दान-व्रतादिक के शुभ भावों के धर्म मानने तथा प्रतिपादन करने वालों को "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" तो कह डाला, परन्तु यह बतलाने की कृपा नहीं की कि उनके उस कहने का क्या आधार है-किसने कहां पर वैसा मानने तथा प्रतिपादन करने वालों को "लौकिक जन" आदि के रूप में उल्लेखित किया है? जहां तक मुझे मालूम है ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में 'लौकिकजन' का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है:-

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगोहं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि।३-६९

इसमें आचार्य जयसेन की टीकानुसार, यह बतलाया गया है कि- 'जो वस्त्रादि परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रन्थ बन गया और दीक्षा लेकर प्रव्रजित हो गया है ऐसा मुनि यदि ऐहिक कार्यों में प्रवृत्त होता है अर्थात् भेदाभेदरूप रत्नत्रयभाव के नाशक ख्याति-पूजा-लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष-मंत्रवाद और वैद्यकादि जैसे जीवनोपाय के लौकिक कर्म करता है, तो वह तप-संयम से युक्त हुआ भी 'लौकिक' (दुनियादार) कहा गया है।

इस लक्षण के अन्तर्गत वे आचार्य तथा विद्वान् कदापि नहीं आते जो पूजा-दान-व्रतादि के शुभ भावों को 'धर्म' बतलाते हैं। तब कानजी महाराज ने उन्हें 'लौकिक जन' ही नहीं, किन्तु 'अन्यमती' तक बतलाकर जो उनके प्रति गुरुतर अपराध किया है। उसका प्रायश्चित उन्हें स्वयं करना चाहिए। ऐसे वचनाऽनय के दोष से दूषित निरर्गल वचन कभी-कभी मार्ग को बहुत बड़ी हानि पहुँचाने के कारण बन जाते है। शुद्धभाव यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्ति का मार्ग है-साधन है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं होती, फिर साधन की अवहेलना कैसी? साधनरूप मार्ग ही जैन तीर्थंकरों का तीर्थ है, धर्म है, और उस मार्ग का निर्माण व्यवहारनय करता है। शुभभावों के अभाव में अथवा उस मार्ग के कटजाने पर कोई शुद्धत्व को प्राप्त नहीं होता।

शुद्धात्मा के गीत गाये जायें और शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग अपने पास हो नहीं, तब उन गीतों से क्या नतीजा? शुभभावरूप मार्ग का उत्थापन सचमुच में जैनशासन का उत्थापन है और जैन तीर्थ के लोप की ओर कदम बढ़ाना है-भले ही वह कैसी भी भूल, गलती अजानकारी या नासमझी का परिणाम क्यों न हो?

शुभ में अटकने से डरने की भी बात नहीं है। यदि कोई शुभ में अटका रहेगा तो शुद्धत्व के निकट तो रहेगा-अन्यथा शुभ के किनारा करने पर तो इधर-उधर अशुभ राग तथा द्वेषादिक में भटकना पड़ेगा और फलस्वरूप अनेक दुर्गतियों में जाना होगा। इसीसे श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेश में ठीक कहा है:-

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्बत नारकम्।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

अर्थात्-व्रतादि शुभ राग-जनित पुण्यकर्मों के अनुष्ठान द्वारा देवपद (स्वर्ग) का प्राप्त करना अच्छा है, न कि हिंसादि अव्रतरूप पापकर्मों को करके नरकपद को प्राप्त करना। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर उन दो पथिकों के समान है जिनमें से एक छाया में स्थित होकर सुखपूर्वक अपने साथी की प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरा वह जो तेज धूप में खड़ा हुआ अपने साथी की बाट देख रहा है और आतपजनित कष्ट उठा रहा है। साथी का अभिप्राय यहाँ उस सुद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी सामग्री से है जो मुक्ति की प्राप्ति में सहायक अथवा निमित्तभूत होती है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी बात को मोक्खपाहुड की 'वर वय-तवेहिं सग्गो' इत्यादि गाथा नं. 25 में निर्दिष्ट किया है। फिर शुभ में अटकने से डरने की ऐसी कौन सी बात है जिसकी चिन्ता कानजी महाराज को सताती है, खासकर उस हालत में जब कि वे नियतिवाद के सिद्धान्त को मान रहे हैं और यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस क्रम से जिस समय होने को है वह उस क्रम से उसी समय होगी उसमें किसी भी निमित्त से कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में शुभभावों को अधर्म बतलाकर उनको मिटाने अथवा छुड़ाने का उपदेश देना भी व्यर्थ का प्रयास जान पड़ता है। ऐसा करके वे उलटा अशुभ-राग-द्वेषादिकी प्रवृत्तिका मार्ग साफ

कर रहे हैं; क्योंकि शुद्ध भाव छद्मास्थावस्था में सदा स्थिर नहीं रहता कुछ क्षण में उसके समाप्त होते ही दूसरा भाव आएगा, वह भाव यदि धर्म की मान्यता के निकल जाने से शुभ नहीं होगा तो लोगों को अनादिकालीन कुसंस्कारों के वश अशुभ में ही प्रवृत्त होना पड़ेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि जब कानजी महाराज पूजादि के शुभ राग को धर्म नहीं मानते तब वे मन्दिर मूर्तियों तथा मानस्तम्भादि के निर्माण में और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा के विधान में योग क्यों देते हैं? क्या उनका यह योगदान उन कार्यों को अधर्म एवं अहितकर मानते हुए किसी मजबूरी के वशवर्ती है? या तमाशा देखने-दिखलाने की किसी भावना से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करके उनमें अपने किसी मत-विशेष के प्रचार करने की दृष्टि प्रेरित है? यह सब एक समस्या है, जिसका उनके द्वारा शीघ्र ही हल होने की बड़ी जरूरत है; जिससे उनकी कथनी और करनी में जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामंजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके।

उपसंहार और चेतावनी

कानजी महाराज के प्रवचन बराबर एकान्त की ओर ढले चले जा रहे है और इसमे अनेक विद्वानों का आपके विषय में अब यह खयाल हो चला है कि आप वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैन आचार्यों को ही वस्तुतः मान्य करते हैं, क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनों में से किसी एक ही नय के एकान्त पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयोंको परस्पर साक्षेप, अविनाभाव सम्बन्धको लिये हुए एक दूसरे के मित्र-रूप में मानते तथा प्रतिपादन करते आये हैं जब कि कानजी महाराज की नीति कुछ दूसरी ही जान पड़ती है। वे अपने प्रवचनों में निश्चय अथवा द्रव्यार्थिकनय के इतने एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नय के वक्तव्य का विरोध तक कर बैठते हैं-उसे शत्रु के वक्तव्यरूप में चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहने के लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तता को लक्षित कराता है और उन्हें श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यों के उपासकों की कोटि से निकाल कर अलग करता है अथवा उनके वैसा होने में सन्देह उत्पन्न करता

है और इसीलिए उनका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए कुन्दकुन्दादि की दुहाई देना प्राय: वैसा ही समझा जाने लगा है जैसा कि कांग्रेस सरकार गांधीजी के विषय मे कर रही है- वह जगह-जगह गांधीजी की दुहाई देकर और उनका नाम ले-लेकर अपना काम तो निकालती है परन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों वस्तुत: मान देती हुई नज़र नहीं आती।

कानजी स्वामी और उनके अनुयायियों की प्रवृत्तियों को देख कर कुछ लोगों को यह भी आशंका होने लगी है कि कहीं जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायों की कुछ-कुछ ऊपरी बातों को लेकर तीनों के मूल मे ही कुठाराघात करेगा और उन्हें आध्यात्मिकता के एकान्त गर्त में धकेल कर एकान्त मिथ्यादृष्टि बनाने में यत्नशील होगा; श्रावक तथा मुनिधर्म के रूप में सच्चारित्र एवं शुभ भावों का उत्थापन कर लोगों को केवल 'आत्मार्थी' बनाने की चेष्टा में संलग्न रहेगा; उसके द्वारा शुद्धात्माके गीत तो गाये जायंगे परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग पास में न होने से लोग "इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा:" की दशा को प्राप्त होंगे; उन्हें अनाचार का डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत: अबद्ध स्पृष्ट है- सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों से रहित शुद्ध-बुद्ध है और उस पर वस्तुत: किसी भी कर्म का कोई असर नही होता, तब बन्धन से छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न भी कैसा? और पापकर्म जब आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त होने का भय भी कैसा? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म, तब पुण्य जैसे कष्ट-साध्य कार्य में कौन प्रवृत्त होना चाहेगा? इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनों सम्प्रदायों का हित-शत्रु बन कर भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन समाज की वह हानि पहुँचाएगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायों के संघर्ष-द्वारा नहीं पहुँच सकी है; क्योंकि तीनो में प्राय: कुछ ऊपरी बातों में ही संघर्ष है- भीतरी सिद्धान्त की बातों में नहीं। इस चौथे सम्प्रदाय के द्वारा तो जिन शासन का मूल रूप ही परिवर्तित हो जायगा-वह अनेकान्त के रूप में न रह कर आध्यात्मिक एकान्तका रूप धारण करने के लिये बाध्य होगा।

यदि यह आशंका ठीक हुई तो नि:सन्देह भारी चिंता का विषय है और

इसलिए कानजी स्वामी को अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देने की जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराज का ऐसा कोई अभिप्राय नहीं होगा जो उक्त चौथे जैन सम्प्रदाय के जन्म का कारण हो, परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायियों की जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई हैं और न भविष्य में वैसी सम्प्रदाय की सृष्टि को ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अत: कानजी महाराज की इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदाय को जन्म देने की नहीं है, तो उन्हें अपने प्रवचनों के विषय में बहुत ही सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है- उन्हें केवल वचनों द्वारा अपनी पोज़ीशन को स्पष्ट करने की ही जरूरत नहीं है, बल्कि व्यवहारादि के द्वारा ऐसा सुदढ़ प्रयत्न करने की भी जरूरत है जिससे उनके निमित्त को पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्य में खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदय में जो आशंका उत्पन हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानों का विचार उनके विषय में कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाए।

आशा है अपने एक प्रवचन के कुछ अंशो पर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेख पर कानजी महाराज विशेष रूप से ध्यान देने की कृपा करेंगे और उसके सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एवं प्रवचन-शैली की समुचित तब्दीली के रूप में शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।

> समन्वय वाणी-फरवरी 2002 मे प्रकाशित समाचार कि देवलाली में मुमुक्ष मण्डल की बैठक में निर्णय लिया गया कि कहान पथी मुमुक्ष समाज में एकता स्थापित कर दिगम्बर जैन समाज से समन्वय करने के लिए एक समिति का गठन किया जाय। इससे स्पष्ट हुआ कि मुमुक्ष मण्डलों में मत भेद है तथा वे स्वयं को दिगम्बर जैन समाज से पृथक मानते हुए अब दिगम्बर जैन समाज से समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनके उक्त निर्णय से ध्वनित होता है कि आचार्य पं. जुगल किशोर जी मुख्तार ने अर्द्धशति पूर्व जो शंका व्यक्त की थी कि "कहीं यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है" वह शत प्रतिशत यथार्थ थी।

● विचारणीय

भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर एक वास्तविक तथ्य

- आर्यिका चन्दनामती

इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के 2600 वें जन्मजयन्ती महोत्सव के सन्दर्भ में प्राचीन जैनसिद्धान्त एवं पुराणग्रन्थों के अनुसार महावीर स्वामी का शोधपूर्ण वास्तविक परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

लगभग दो हजार वर्षपूर्व श्रीयतिवृषभआचार्य द्वारा रचित "तिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ में वर्णन आया है कि-

सिद्धत्थरापियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४९।। पृ. 210

अर्थात् भगवान महावीर कुण्डलपुर जिला नालन्दा (बिहार, प्रदेश) में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।।

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड एवं नवमी पुस्तक की टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है कि-

"आषाढ जोण्ण पक्ख छट्ठीए कुण्डलपुर णगराहिव णाहवंश सिद्धत्थं णरिन्दस्स तिसिला देवीए गब्भमागंतणेसु तत्थ अट्ठादिवसाहिय णवमासे अच्छिम चइत्त सुक्ख पक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी गब्भादो णिक्खंतो।"

वर्तमान समय से 2599 वर्ष पूर्व बिहार प्रान्त के नालन्दा जिले में स्थित "कुण्डलपुर" नगर में जब भगवान महावीर ने जन्म लिया तो जन्म से 15 महीने पूर्व से ही माता त्रिशला के आँगन में रत्नवृष्टि हुई थी। इस रत्नवृष्टि के विषय में "उत्तरपुराण" नामक आर्षग्रन्थ में श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं-

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे॥२५१॥
राज्ञः कुंडपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति॥२५२॥
आषाढे सिते पक्षे................(उत्तरपुराण, पर्व ७४)

– जब अच्युत स्वर्ग में उसकी आयु छह महीने की रह गई और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ उस समय इसी भरतक्षेत्र मे विदेह नामक देश में "कुण्डलपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ के घर प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ मणियों की भारी वर्षा होने लगी।

हरिवंशपुराण में भी श्रीजिनसेनाचार्य ने द्वितीय सर्ग मे श्लोक नं. 5 से 24 तक महावीर स्वामी के गर्भकल्याणक का प्रकरण लिखते हुए कुण्डलपुर नगरी का विस्तृत वर्णन किया है तथा उस नगरी की महिमा महावीर के जन्म से ही सार्थक बताते हुए कहा है कि–

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्।
स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्॥१२॥

(हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)

अर्थ - इस कुण्डलपुर नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार बनी – भगवान महावीर वहाँ स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

यहाँ विदेह देश के वर्णन से पूरा विहारप्रान्त माना गया है। उसके अन्दर एक विशाल (99 मील का) नगर था जैसे – मालवादेश में "उज्जयिनी" नगरी, कौशलदेश में "अयोध्या" नगरी, वत्सदेश में "कौशाम्बी" नगरी, आदि के वर्णन से बड़े-बड़े जिलों एवं प्रान्तों के अन्दर राजधानी के रूप में भगवन्तों की जन्मनगरियाँ समझनी चाहिए न कि आज के समान छोटे से ग्राम को तीर्थंकर की जन्मभूमि कहना चाहिए।

महाकवि श्रीपुष्पदन्त विरचित "वीरजिणिंदचरिउ" (भारतीय ज्ञानपीठ से सन् 1974 में प्रकाशित) के पृष्ठ 11-12-13 पर अपभ्रंश भाषा में वर्णन आया है कि -

इह जंबुदिवि भरहंतरालि। रमणीय विसइ सोहा विसालि।।
कुंडउरि राउ सिद्धत्थ सहिउ। जो सिरिहरु मग्गण वेस रहिउ।।

इन पद्यों का हिन्दी अनुवाद करते हुए डॉ. हीरालाल ने लिखा है कि-

जब महावीर स्वामी का जीव स्वर्ग से च्युत होकर मध्यलोक में आने वाला था तब सौधर्म इन्द्र ने जगत कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कुबेर से कहा-

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं.... ऐसे उन राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा जिसके चरणों में इन्द्र भी नमन करेंगे। अतएव हे कुबेर! इन दोनों के निवास भवन को स्वर्णमयी, कान्तिमान् व देवों की लक्ष्मी के विलासयोग्य बना दो। **इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने कुण्डपुर को ऐसा ही सुन्दर बना दिया।**

इसी प्रकरण में आगे देखें-

पहुपंगणि तेत्थु वंदिय चरम जिणिंदें।
छम्मास विरइय रयणविट्ठि जक्खिंदें।।७।।

अर्थात् ऐसे उस राजभवन के प्रांगण में अंतिम तीर्थंकर की वन्दना करने वाले उस यक्षों के राजा कुबेर ने छह मास तक रत्नों की वृष्टि की।

माणिक्यचन्द्र जैन बी. ए. खंडवा निवासी ने सन् 1908 में लिखी गई अपनी पुस्तक LIFE OF MAHAVIRA (महावीर चरित्र) में कुण्डलपुर के विषय में निम्न निष्कर्ष दिए है-

1 The Description of the magnificence of his palace, the ceremonious rejoicings with which the birth of Mahavira was celebrated and the grandevr and pomp of his court, make us believe that Siddhartha was a powerful monarch of his time and his metropolis, Kundalpura, a big populour city [Pg 14-15]

"महाराजा सिद्धार्थ के महल की भव्यता, महावीर के जन्म पर मनाई गई खुशियाँ एवं उनके राजदरबार के वैभव का वर्णन हमें इस तथ्य के लिए

विश्वस्त कर देते हैं कि सिद्धार्थ अपने समय के शक्तिशाली राजा थे और उनका महानगर "कुण्डलपुर" एक बड़ा घनी जनसंख्या वाला नगर था। (पृ. 14-15)

2 As to the birthplace of Mahavira; it is probable but not certain, as Dr Hoernle suggests; that the Jaina tradition which represents Kundalpura as a large town may be correct, in as much as Kundalpura is taken as equivalent to Vesali [Sanscrit Vaishali] He puts his birthplace at Kollaga; another sub of Vesali.. .

उपर्युक्त कथन के द्वारा लेखक श्रीमाणिक्यचन्द्रजी ने एक विदेशी विद्वान् के द्वारा वैशाली के एक स्थान "कोलागा" को भगवान महावीर का जन्मस्थान कहने पर अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि "कोलागा" को महावीर की जन्मभूमि मानना बिल्कुल अनावश्यक एवं निराधार है क्योंकि "कुण्डलपुर" उनका जन्मस्थान निर्विवादित सत्य है जैसाकि उन्हीं के शब्दों में देखें-

Both the Digambaras and Shvetambaras assert that Kundalpura was the place where He was born [Page 17]

अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही एकमत से कुण्डलपुर को ही महावीर स्वामी की जन्मभूमि मानते हैं।

उन्होंने अपनी इसी पुस्तक में "**महावीरपुराण**" का सन्दर्भ देते हुए कुण्डलपुर को एक बड़े शहर के रूप में स्वीकार किया है-

अर्थात् कुण्डलपुर शहर एक बड़ी राजधानी के रूप में सर्वतोमुखी मान्यता का केन्द्र रहा है क्योंकि राजा चेटक अपनी पुत्री त्रिशला जैसी तीर्थंकर जन्मदात्री कन्या का विवाह किसी छोटे-मोटे जमींदार से तो कर नहीं देते बल्कि अपने समान अथवा अपने से भी उच्चस्तरीय राजघराने में ही करते। इसी बात को LIFE OF MAHAVIRA में बताया है-

All these remarks go to show that Siddhartha; if not a powerful monarch; exercised; at least; a kingly authority; if not more to that of Chetaka. [Page 16]

ये कतिपय प्रमाण यहाँ महावीर की. जन्मभूमि कुण्डलपुर से सम्बन्धित दिए गए हैं अब महावीर के ननिहाल "वैशाली" के विषय में जानकारी प्राप्त कीजिए-

1. वीरजिणिंदचरिउ ग्रन्थ की पाँचवी सन्धि (पृ. 60) में श्रीपुष्पदंत महाकवि कहते हैं कि राजा श्रेणिक ने समवसरण में गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवन्! मुझे उस आर्यिका चन्दना का चरित्र सुनाइए जिसके शरीर में चन्दन की सुगन्ध है तथा जिसने मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है। राजा के इस प्रश्न को सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि हे श्रेणिक! मै चन्दना का वृत्तांत कहता हूँ सो सुनो-

सिन्धु-विसइ वइसाली-पुरवरि। घर-सिरि-ओहामिय-सुर-वर-घरि।।
चेडउ णाम णरेसरु णिवसइ। देवि अखुद्द सुहद्द महासई।।

अर्थात् सिन्धुविषय (नदी प्रधान विदेह नामक प्रदेश) में वैशाली नामक नगर है जहाँ के घर अपनी शोभा से देवों के विमानों की शोभा को भी जीतते हैं। उस नगर में चेटक नामक नरेश्वर निवास करते हैं।

उनकी महारानी महासती सुभद्रा से उनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास नामक दस पुत्र उत्पन्न हुए।

उनकी अत्यन्त रूपवती पुत्रियाँ भी हुई, जिनके नाम हैं-प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभादेवी, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना। इनमें से प्रियकारिणी (त्रिशला) का विवाह श्रेष्ठ नाथवंशी कुण्डलपुर नरेश सिद्धार्थ के साथ कर दिया गया।

इसी प्रकार उत्तरपुराण के 75वें पर्व में वर्णन आया है-

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेभवत्।
चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।।३।।

इस ग्रन्थ में भी राजा चेटक के दश पुत्र एवं सात पुत्रियों का कथन करते हुए ग्रन्थकार ने कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ का वर्णन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सहज समझा जा सकता है कि विहार प्रान्त में

कुण्डलपुर और वैशाली दोनों अलग-अलग राजाओं के अलग-अलग नगर थे तथा कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ एवं वैशाली के राजा चेटक का अपना-अपना विशेष अस्तित्व था। अत: एक-दूसरे के अस्तित्व को किसी की प्रदेश सीमा में गर्भित नहीं किया जा सकता है।

कुछ व्यावहारिक तथ्य-

1. किसी भी कन्या का विवाह हो जाने पर उसका वास्तविक परिचय ससुराल से होता है न कि मायके (पीहर) से।
2. उसकी सन्तानों का जन्म भी ससुराल में ही होता है। हाँ! यदि ससुराल मे कोई विशेष असुविधा हो या सन्तान का जन्म वहाँ शुभ न होता हो तभी उसे पीहर में जाकर सन्तान को जन्म देना पड़ता है।
3. पुत्र का वंश तो पिता के नाम एवं नगर से ही चलता है न कि नाना-मामा के वंश और नगर से उसकी पहचान उचित लगती है।

इन व्यावहारिक तथ्यों से महावीर की पहचान ननिहाल वैशाली और नाना चेटक से नहीं, किन्तु पिता की नगरी कुण्डलपुर एवं पिता श्री सिद्धार्थ राजा से ही मानना शोभास्पद लगता है। अपना घर एवं नगर भले ही छोटा हो किन्तु महापुरुष दूसरे की विशाल सम्पत्ति एवं नगर से अपनी पहचान बनाने में गौरव नहीं समझते हैं।

फिर वैशाली के दश राजकुमार किनके उत्तराधिकारी बने?

जैन ग्रन्थों के पौराणिक तथ्यों से यह नितान्त सत्य है कि राजा चेटक के दस पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। इनमें से पाँच पुत्रियों के विवाह एवं दो के दीक्षाग्रहण की बात भी सर्वविदित है। किन्तु यदि तीर्थंकर महावीर को वैशाली के राजकुमार या युवराज के रूप में माना गया तो राजा चेटक के दशों पुत्र अर्थात् महावीर के सभी मामा क्या कहलाएंगे? क्या वे कुण्डलपुर के राजकुमार कहे जाएंगे?

यह न्यायिक तथ्य भी महावीर को कुण्डलपुर का युवराज ही स्वीकार करेगा न कि वैशाली का। अत: कुण्डलपुर के राजकुमार के रूप में ही महावीर का अस्तित्व सुशोभित होता है।

अपनी शोध सामग्री छोड़कर दूसरे उधार लिए गए साक्ष्यों पर विश्वास क्यों करें?

महावीर के पश्चात् जैनशासन दो हजार वर्षो से दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो परम्पराओं में विभक्त हो गया यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथापि आज भी दिगम्बर जैनधर्म के अतिप्राचीन प्रमाण मौजूद हैं जिनमे महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर ही माना गया है और उन तथ्यों के आधार पर तीर्थंकर के जन्म से पूर्व 15 माह तक रत्नवृष्टि उनकी माता के महल में ही होने के प्रमाण हैं न कि नाना-नानी के आँगन में रत्नवृष्टि हो सकती है। पुन: जहाँ रत्नवृष्टि हुई है, भगवान का जन्म तो उसी घर में मानना पड़ेगा अत: **''महावीर का जन्म त्रिशला माता की कुक्षि से कुण्डलपुर में ही हुआ था''** यह दृढ़ श्रद्धान रखते हुए कुण्डलपुर को विकास और प्रचार की श्रेणी में अवश्य लाना चाहिए।

कुण्डलपुर के विषय में वर्तमान अर्वाचीन (दूसरे साहित्य के अनुसार) शोध का महत्व दर्शाते हुए यदि दिगम्बर जैन ग्रन्थों की प्राचीन शोधपूर्ण वाणी को मद्देनजर करके वैशाली को महावीर जन्मभूमि के नाम से माना जा रहा है तो अन्य ग्रन्थानुसार आदि अनेक बातें भी हमें स्वीकार करनी चाहिए किन्तु शायद इन बातों को कोई भी दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अत: हमारा अनुरोध है कि अपनी परमसत्य जिनवाणी को आज के थोथे शोध की बलिवेदी पर न चढ़ाकर संसार के समक्ष उन्हीं प्राचीन दि. जैन ग्रन्थों के दस्तावेज प्रस्तुत करना चाहिए। कुल मिलाकर दिगम्बर होकर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को छोड़कर अन्य प्रमाणों से झूठी प्रामाणिकता सिद्ध करें, यह बात कुछ समझ में नहीं आती है।

वैशाली का विकास हो किन्तु महावीर जन्मभूमि के नाम से नहीं-

जहाँ जिस क्षेत्र में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के जन्म होता है वहाँ की तो धरती ही रत्नमयी और स्वर्णमयी हो जाती है अत: वहाँ दूर-दूर तक यदि उत्खनन में कोई पुरातत्व सामग्री प्राप्त होती रहे तो कोई अतिशयोक्ति वाली बात नहीं है अर्थात् महावीर के ननिहाल वैशाली में यदि कोई अवशेष मिले हैं तो वे जन्मभूमि के प्रतीक न होकर यह पौराणिक तथ्य दर्शाते हैं कि

तीर्थंकर महावीर के अस्तित्व को वैशाली में भी उस समय मानकर उनके नाना-मामा सभी गौरव का अनुभव करते हुए सिक्के आदि में उनके चित्र उत्कीर्ण कराते थे तभी वे आज पुरातत्व के रूप में प्राप्त हो रहे हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार तीर्थंकर तो अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र ही होते हैं अर्थात् उनके कोई भाई नहीं होता अत: माता-पिता के स्वर्गवासी होने के पश्चात् कुण्डलपुर की महिमा वैशाली में महावीर के मामा आदि जातिबन्धुओं ने प्रसारित कर वहाँ कोई महावीर का स्मारक भी बनवाया हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अत: संभव है कि उस स्मारक के अवशेष वहाँ मिल रहे हों।

वर्तमान में भी यदि वैशाली जनसामान्य के आवागमन की सुविधायुक्त नगर है तो वहाँ महावीर स्वामी का स्मारक आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र बन सकता है किन्तु विद्वानों को उपर्युक्त विषयों पर गहन चिन्तन करके ऐसा निर्णय लेना चाहिए कि प्राचीन सिद्धान्त धूमिल न होने पावें और भगवान महावीर के 2600वें जन्मजयन्ती महोत्सव मनाने के साथ ही जैनसमाज के द्वारा कोई ऐसा विवादित कार्य न हो जावे कि महावीर की असली जन्मभूमि "**कुण्डलपुर**" ही विवाद के घेरे में पड़कर महावीर जन्मभूमि के सौभाग्य से वंचित हो जावे।

महावीरकालीन कुण्डलपुर को शहर की एक कालोनी नहीं कह सकते

तीर्थंकर भगवान की जन्मनगरी में साक्षात् सौधर्म इन्द्र एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है और वहाँ भारी प्रभावना के साथ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाता है। अत: उस नगरी का प्रमाण साधारण नगरियों के समान न मानकर अत्यन्त विशेष नगरी मानना चाहिए।

जैसाकि शास्त्रों में वर्णन भी है कि तीर्थंकर की जन्मनगरी को उनके जन्म से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र स्वयं आकर व्यवस्थित करते है। जिस कुण्डलपुर को स्वयं इन्द्रों ने आकर बसाया हो उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता है तथा उसके अन्तर्गत अन्य नगरों का मानना तो उचित लगता है, न कि अन्य नगरियों के अन्तर्गत दिल्ली शहर की एक कालोनी की भाँति "**कुण्डलपुर**" को मानना चाहिए।

कालपरिवर्तन के कारण लगभग 2500 वर्षो बाद उस कुण्डलपुर नगरी की

सीमा भी यदि पहले से काफी छोटी हो गई है तो भी उसके सौभाग्यमयी अस्तित्व को नकार कर किसी बड़े नगर को महावीर जन्मभूमि का दर्जा प्रदान कर देना उसी तरह अनुचित लगता है कि जैसे हमारा पुराना घर यदि आगे चलकर गरीब या खण्डहर हो जाए तो किसी पड़ोसी बड़े जमींदार के घर से अपने अस्तित्व की पहचान बनाना।

अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम तो महावीर की वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर नगरी का जीर्णोद्धार, विकास आदि करके उसे खूब सुविधासम्पन्न करना चाहिए अन्यथा उसे विलुप्त करने को दुस्साहस तो कदापि नहीं होना चाहिए।

यदि 50 वर्ष पूर्व समाज के वरिष्ठ लोगों ने सूक्ष्मता से दिगम्बर जैन ग्रन्थों का आलोडन किए बिना कोई गलत निर्णय ले लिया तो क्या प्राचीन सिद्धान्त आगे के लिए सर्वथा बदल दिए जाएँगे?

मेरी तो दिगम्बर जैन धर्मानुयायियों के लिए इस अवसर पर विशेष प्रेरणा है कि यदि इसी तरह निराधार और नए इतिहासविदों के अनुसार प्राचीन तीर्थो का शोध चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब अपने हाथ से कुण्डलपुरी, पावापुरी, अयोध्या, अहिच्छत्र आदि असलीतीर्थ निकल जाएँगे क्योंकि आज तो बिजौलिया (राज.) के लोग अहिच्छत्र तीर्थ को अस्वीकार करके बिजौलिया में भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग होना मानते हैं। इसी प्रकार सन् 1993 में एक विद्वान् अयोध्या में एक संगोष्ठी के अन्दर वर्तमान की अयोध्या नगरी पर ही प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अन्यत्र विदेश की धरती पर बताने लगे तब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने उन्हें यह कहकर समझाया था कि शोधार्थी विद्वानों को इतना भी शोध नहीं करना चाहिए कि अपनी माँ पर ही सन्देह की सुई टिकने लगे अर्थात् तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी एवं परम्पराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को सन्देह के घेरे में डालकर या उन्हें झूठा ठहराकर लिखे गए शोध प्रबन्ध हमें मंजूर नहीं हैं।

शोध का अर्थ क्या है?

मुझे समझ में नहीं आता कि अपनी प्राचीन मूल परम्परा पर कुठाराघात करके अर्वाचीन ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना ही क्या शोध की

परिभाषा है? वैशाली कभी भी सर्वसम्मति से महावीर की जन्मभूमि के रूप में स्वीकार नहीं की गई क्योंकि अनेक साधु-साध्वी इस विषय से सन् 1974 में भी असहमत थे और आज भी असहमत हैं यदि इस जन्मजयन्ती महोत्सव पर वैशाली को "महावीरस्मारक" के रूप में विकसित किया जाता है तब तो संभवत: किसी साधु-साध्वी, विद्वान् अथवा समाज का प्रबुद्धवर्ग उसे मानने से इन्कार नहीं करेगा किन्तु महावीर की जन्मभूमि वैशाली के नाम पर अधिकांश विरोध के स्वर गूंजेंगे।

इस विषय में चिन्तन का विषय यह है कि यदि दिगम्बर जैनसमाज के ही लोग अपने प्राचीन आगम के प्रमाण छोड़कर दूसरे ग्रन्थों एवं अर्वाचीन इतिहासज्ञों के कथन प्रामाणिक मानने लगेंगें तो उन पूर्वाचायों द्वारा कथित आगम के प्रमाण कौन सत्य मानेंगे? इस तरह तो "प्राचीनभारत" पुस्तक में इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा द्वारा लिखित जैनधर्म को भगवान महावीर द्वारा संस्थापित मानने में भी हमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए? यदि सन् 1972 में लिखे गए उस कथन का हम आज विरोध कर उसे पूर्ण असंगत ठहराते हैं तो वैशाली का महावीर की जन्मभूमि कहने पर भी हमें इतिहास को धूमिल होने से बचाने हेतु गलत कहना ही पड़ेगा अन्यथा अपने हाथों से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के अतिरिक्त कोई अच्छा प्रतिफल सामने नहीं आएगा।

हम तो शोध का अर्थ यह समझते हैं कि अपने मूल इतिहास एवं सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुए वर्तमान को प्राचीनता से परिचित कराना चाहिए। वैशाली में न तो महावीर स्वामी का कोई प्राचीन मन्दिर है और न ही उनके महल आदि की कोई प्राचीन इमारत मिलती है, केवल कुछ वर्ष पूर्व वहाँ "कुण्डग्राम" नाम से एक नवनिर्माण का कार्य शुरू हुआ है। जैसाकि पण्डित बलभद्र जैन ने भी "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" (बंगाल-विहार-उड़ीसा के तीर्थ) नामक ग्रन्थ में (सन् 1975 में हीराबाग-बम्बई से प्रकाशित) कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है-

"कुण्डलपुर विहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट आफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान महावीर के गर्भ, जन्म और तपकल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई

शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मन्दिर है जिसमें भगवान महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। वहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी 12 से 14 तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।''

कुण्डलपुर या कुण्डपुर को कुण्डग्राम कहकर वैशाली साम्राज्य की एक शासित इकाई मानते हुए क्या हमारे कुछ विद्वान् राजा सिद्धार्थ को चेटक राजा का घरजमाई जैसा तुच्छ दर्जा दिलाकर उन्हें वैशाली के ही एक छोटे से मकान का गरीब श्रावक सिद्ध करना चाहते हैं? क्या तीर्थंकर के पिता का कोई विशाल अस्तित्व उन्हें अच्छा नहीं लगता है?

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी इस विषय में बतलाती हैं कि सन् 1974 में महावीर स्वामी के 2500वें निर्वाणमहोत्सव के समय पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर महाराज, आचार्य श्री देशभूषण महाराज, पण्डितप्रवर सुमेरचन्द दिवाकर, पंडित मक्खनलाल शास्त्री, डा. लालबहादुर शास्त्री-दिल्ली, पं. मोतीचंद कोठारी-फल्टण आदि अनेक विद्वानों से चर्चा हुई तो सब एक स्वर से कुण्डलपुर वर्तमान तीर्थक्षेत्र को ही महावीर जन्मभूमि के रूप में स्वीकृत करते थे, वैशाली किसी को भी जन्मभूमि के रूप में इष्ट नहीं थी।

जरा चिन्तन कीजिए !

उदाहरण के तौर पर गणिनी श्री ज्ञानमती का जन्म उत्तरप्रदेश के टिकैतनगर (जिला बाराबंकी) ग्राम में हुआ है और उनके द्वारा हुई व्यापक धर्मप्रभावना के कार्य दिल्ली, हस्तिनापुर आदि में हुए हैं। आगे चलकर सौ-दो सौ वर्ष पश्चात् कोई शोधकर्ता इन स्थानों पर कुछ साक्ष्य पाकर टिकैतनगर की बजाए हस्तिनापुर, दिल्ली आदि माताजी का जन्मस्थान मान ले तो क्या उसे सच मान लिया जाएगा? अर्थात् उन स्थानों को माताजी की कर्मभूमि तो माना जा सकता है किन्तु जन्मभूमि तो जन्म लिए हुए स्थान को ही मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर ''वैशाली'' को महावीर जन्मभूमि के नाम से मान्यता नहीं दिलाई जा सकती है अतः विद्वान् आचार्य, साधु-साध्वी सभी गहराई से चिन्तन कर कुण्डलपुर की खतरे में पड़ी अस्मिता की रक्षा करें।

जन्मभूमि के बाद निर्वाणभूमि की भी बारी आने वाली है-

वर्तमान की बुद्धिजीवी पीढ़ी ने महावीर स्वामी की कल्याणक भूमियों के भ्रामक प्रचार का मानो ठेका ही ले लिया है। इसे शायद पंचमकाल या हुण्डावसर्पिणी का अभिशाप ही कहना होगा कि महावीर स्वामी की जन्म एवं निर्वाण दोनों भूमियों को विवादित कर दिया गया है।

पच्चीस सौ सत्ताइस वर्षों पूर्व विहार प्रान्त की जिस पावापुर नगरी से महावीर ने मोक्षपद प्राप्त किया वह आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है और प्रत्येक दीपावली पर वहाँ देश भर से हजारों श्रद्धालु निर्वाणलाडू चढ़ाने पहुँचते हैं। जैसा शास्त्रों में वर्णन आया है बिल्कुल उसी प्रकार की शोभा से युक्त पावापुरी का सरोवर आज उपलब्ध है और उसके मध्यभाग में महावीर स्वामी के अतिशयकारी चरण-चिन्ह विराजमान हैं फिर भी कुछ विद्वान् एवं समाजनेता गोरखपुर (उ.प्र.) के निकट सठियावां ग्राम के पास एक **"पावा"** नामक नगर को ही महावीर की निर्वाणभूमि पावा सिद्धक्षेत्र मानकर अपने अहं की पुष्टि कर रहे हैं।

इस तरह की शोध यदि अपने तीर्थ और शास्त्रों के प्रति चलती रही तब तो सभी असली तीर्थ एवं ग्रन्थों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएँगे तथा जैनधर्म की वास्तविकता ही विलुप्त हो जाएगी। पावापुरी के विषय में भी अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध है किन्तु यहाँ विषय को न बढ़ाते हुए केवल प्रसंगोपात्त जन्मभूमि प्रकरण को ही प्रकाशित किया गया है सो विज्ञजन स्वंय समझें एवं दूसरों को समझावें।

इत्यलम्!

-जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर

पं. श्री हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री एवं उन की साहित्य सपर्या

-अरुण कुमार जैन
जैन दर्शन व्याकरणाचार्य

वींसवी शताब्दी के जिन मनीषियों ने समाज की उपेक्षा के भारी संत्रासों को झेलकर तथा नाना आर्थिक समस्याओं से जूझकर भी अपनी अनर्ध्य साधना से नाश होने के कगार पर खड़े जिन-साहित्य-प्रासाद के संरक्षण एवम् पुनरुद्धार में अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया, जिन और संस्कृति के आधार स्तम्भ आचार्य प्रणीत वाङ्.मय को जन-जन तक पहुँचाने में महनीय अवदान देकर समाज और देश को सत्सरणि का संदर्शन कराया, नाना शास्त्राद्यवीक्षण से जैन वाङ्.मय को युग-सापेक्ष तुलनात्मक अध्ययन कर वाग्देवी के मन्दिर को समलंकृत कर विश्व वाङ्.मय में जैन मनीषा के उत्कर्ष को सिद्ध किया, आजीविकोपयोगी समुचित संसाधनों के अभाव में भी जो साहित्य-सपर्या से कभी विरत नहीं हुए, ऐसे महान् श्रुत-समाराधकों की गणनाप्रसंग में अग्रणी विद्वान् हैं- सिद्धान्ताचार्य पं. श्री हीरालाल शास्त्री।

ठिंगनी कृश देह परन्तु अन्तरंग में दृढ़ता भरी संकल्प शक्ति, घुटनों तक धोती, बिना प्रेस का कुर्ता, यदा-कदा दर्शनीय सिर पर टोपी बाहर से कड़क, अन्दर से नरम, बिल्कुल महात्म-सुलभ नारि केलसमाकार, अन्दर को धुंसी आँखों में शास्त्रों की गहनावलोकनी दृष्टि, कृत्रिमता से रहित सीधी सपाट वाणी, यही हैं सिद्धान्ताचार्य पं. श्री हीरालाल जी शास्त्री।

लघु और कृशकाय के इस महामनीषी ने घोर पारिवारिक प्रतिकूलताओं के मध्य अपने अप्रतिहत पुरुषार्थ के बल पर जिस विशाल वाङ्.मय की रचना की, उसे ये स्वयं नहीं उठा सकते। पं. श्री शास्त्री जी आगम शास्त्रों के तलस्पर्शी अध्येता, कुशल संपादक एवम् अनुवादक थे।

कर्म सिद्धान्त, जैन-न्याय शास्त्र, एवम् जैन आचारशास्त्र के आप मर्मज्ञ विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त अपने अपनी मेधा एवम् सूक्ष्मेक्षिका के बल पर जैन काव्यों का भी सटीक सम्पादन प्रस्तुत किया है। मात्र धवला एवम् जयधवला ग्रन्थराजों पर किया गया उनका कार्य जैन साहित्य में उन्हें अमर कीर्ति दिलाने में सक्षम है।

बुन्देलखण्ड की पण्डितप्रसूता धरा के ललितपुर मण्डलान्तर्गत साढ़ूमल ग्राम में स्वनाम धन्य पं. श्री हीरालाल का जन्म श्रावण मास की अमावस्या वि. सं. 1961 में हुआ। प्रारम्भ से ही आप प्रतिभाशाली थे। उनके ही ग्राम में संचालित श्री महावीर दिगम्बर जैन पाठशाला, साढ़ूमल में आपको प्रवेश दिलाया गया, जहाँ से आपने संस्कृत मध्यमा एवम् जैन धर्म विशारद की परीक्षाएं उच्चश्रेणी में उत्तीर्ण की। आपकी उत्कट ज्ञान-पिपासा देखकर आपको उच्चाध्ययन हेतु इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्द्र जैन महाविद्यालय में भेजा गया। गहन अध्यवसायपूर्वक अध्ययन करते हुए आपने शास्त्री और न्यायतीर्थ की उपाधियाँ साधिमान अर्जित की। उसके पश्चात् भी ज्ञानाराधना का क्रम नही रुका। आपने सिद्धान्त शास्त्रों के गहन अध्ययन हेतु जैन शिक्षा मन्दिर में स्व. पं. श्री वंशीधर जी सिद्धान्त शास्त्री का शिष्यत्त्व ग्रहण कर सिद्धान्त ग्रन्थों में पारंगतता अधिगत की। विद्यार्जन उपरान्त कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया।

सर्वप्रथम सन् 1924 में आप काशी के महान् शिक्षाकेन्द्र श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्माध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। स्याद्वाद महाविद्यालय से आप भा. दि. जैन महाविद्यालय सहारनपुर चले गये, जहाँ सन् 1927 से 32 तक धर्माध्यापक के रूप में अपनी सेवायें प्रदान की। सहारनपुर में श्वेताम्बर जैन साधुओं को भी अतिरिक्त समय में अध्यापन कार्य करते थे, इससे आपको प्राकृत भाषा में गहरी पैठ बनाने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त आपने भा. व. दि. जैन महाविद्यालय ब्यावर, जैन सिद्धान्त शाला ब्यावर, उत्तर प्रान्तीय दिगम्बर जैन गुरुकुल, हस्तिनापुर, आदि संस्थाओं में भी अपनी अध्यापकीय सेवाएं दी।

शोधानुसन्धान, सम्पादन एवम् अनुवाद आदि कार्यो के निमित्त आपने धवला कार्यालय अमरावती, श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन. ब्यावर.

एवम् वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली आदि संस्थाओं से आप सम्बद्ध रहे। इसके अतिरिक्त श्री भा.व.दि. जैन संघ मथुरा में प्रचार कार्यार्थ भी आप नियुक्त हुए।

उक्त संस्थाओं में कार्य करते हुए प्राचीन जैन साहित्य के अध्ययन में अपनी गहन अभिरुचि के कारण आप निरन्तर ज्ञानाराधन के पुण्य कार्य में सदा निरत रहे। यहाँ ज्ञातव्य है कि आपने जिन संस्थाओं में अपनी सेवाएँ प्रदान की, सभी संस्थाएँ समाज द्वारा संचालित थी। सामाजिक संस्थाओं में कार्यरत विद्वानों को किन-किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, भुक्तभोगी एवम् तटस्थ विज्ञजन जानते हैं। इन संस्थाओं में कर्मचारियों को अपने सेवा कर्म के साथ संस्था के पदाधिकारियों की ख्याति-लाभादि की अपेक्षा का ध्यान भी रखना पड़ता है। कर्मचारियों के कार्य परिश्रम का मूल्यांकन उनकी योग्यता एवम् निष्ठा के आधार पर नहीं, अधिकारियों से उनकी अनुकूलता के आधार पर किया जाता है। यहाँ पर दिया जाने वाला कम वेतन कर्मचारि विद्वान् को तन से बेखबर होकर कार्य करने को मजबूर करता है। इन सब प्रकार की घोर कठिनाईयों आपदाओं को झेलते हुए और पारिवारिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के प्रहारों का मुकाबला करना पड़ता है।

इन सब विसंगतियों के कारण पं. श्री शास्त्री जी अपनी स्वाभिमानी वृत्ति एवम् स्पष्टवादिता के कारण संस्थाधिकारियों के प्रभाजन बने, परन्तु आपने जीवन शैली से कभी समझौता नहीं किया। यही कारण है कि उन्हें किसी भी सेवा में दीर्घकालिक स्थायित्व नहीं मिल सका, उन्हें अनेक स्थानों पर सेवार्थ जाना पड़ा।

उनकी स्पष्टवादिता का एक उदाहरण, जो उनके ही मुख से सुना था, यहाँ प्रस्तुत है। पण्डित श्री शास्त्री जी, उज्जैन में सेठ लालचन्द्र जी सेठी के यहाँ उनके परिवार को धार्मिक अध्ययनार्थ एवं मन्दिर जी में शास्त्र सभा करने हेतु नियुक्त थे। उन दिनों सेठ सा. का उनकी सामाजिक सेवाओं के लिये नागरिक अभिनन्दन समारोह का आयोजन था। सेठ सा. के व्यक्तित्त्व पर प्रकाश डालने हेतु आपका नाम भी वक्ताओं की सूची में था। आपने सेठजी का परिचय देते हुए भरी सभा में कहा, यदि सेठ सा. के व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर यदि मूल्याङ्कन करते हुए मैं आपको प्रबन्धकीय क्षमता में 90/100, व्यवसाय दक्षता

95/100, धर्मज्ञान 85/100 समाज सेवा 85/100 अंक देना चाहता हूँ, परन्तु खेद है कि उदारता के प्रश्नपत्र में बड़ी मुश्किल से 100 में से मात्र 10 नं. ही दे पा रहा हूँ। पण्डित जी की इस टिप्पणी से सेठ सा. आश्चर्य से स्तब्ध रहे, ऐसे स्पष्टवादी थे -पं. श्री हीरालाल जी।

स्पष्टवादिता, स्वाभिमानिता उनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। तथापि वे पूर्ण व्यवहार कुशल एवम् सहयोगी स्वभाव के थे। आतिथ्य-सत्कार में उनका आत्मीयता पूर्ण-स्नेह अतिथि आगन्तुक को अभिभूत कर देता था। सरस्वती भवन ब्यावर से त्यागपत्र देने के उपरान्त उज्जैन से ट्रस्ट के मन्मी ने मुझे चार्ज लेने भेजा, तब भवन की एक-एक पुस्तक एवं पुरामहत्त्व की वस्तुओं को जो कि उनहोंने बहुत संजोकर रखी थीं, मुझे संभलवाने में एक सप्ताह से अधिक समय लगा, इस पूर्ण अवधि में प्रतिदिन पण्डितजी ने स्वयं अपने पुत्र के साहाय्य से भोजन तैयार कर खिलाया जब तक वे ब्यावर में रहे उन्होंने मुझे व मेरे साथ गये पण्डित दयाचंद जी शास्त्री उज्जैन को अन्यत्र भोजन नहीं करने दिया। मुझे नीतिकार के वचन याद आये।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तर चेतांसि को विज्ञातुमर्हति॥

प्रात:काल चार बजे शय्यात्याग देना एवं दैनिक कर्म से निवृत्त होकर प्रात: पाँच बजे से प्रारम्भ हो जाता था उनका महनीय ज्ञानाराधन का यज्ञ। प्रात: 7.00 बजे देवदर्शन के उपरान्त दुग्धसेवन पश्चात् पुन: वही ग्रन्थावलोकन, संशोधन, संपादन एवम् अनुवाद कार्य की साधना। अपराहन 1.00 घण्टे विश्राम पुन: ग्रन्थाध्ययन! सायंकाल भोजन के पश्चात् भवन के चारों ओर परिक्रमा लगाते हुए स्तुतिपाठादि एवम् सायंकालीन भ्रमण! एक काल में ज्ञानाराधन, देव-भक्ति एवम् शारीरिक स्वास्थ्य तीनों क्रियाओं को सम्पन्न कर अपने बहुमूल्य समय को बचाकर वे सरस्वती देवी की आराधना में लगाते थे।

एक बार कोई व्यवित शंकाओं की सूची लेकर पण्डितजी के पास आये पण्डित जी ने बहुत कम समय में अर्थात् तीन-तीन चार-चार शंकाओं का समाधान ग्रन्थ के सन्दर्भोल्लेख मात्र द्वारा कर दिया, परन्तु वे सज्जन इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे, पण्डितजी ने स्पष्ट कह दिया पहिले आप स्वाध्याय करें

पीछे हमारे पास आवें। मैनें जब पण्डितजी को पूछा - पण्डितजी आपने इन्हें समय तो दिया ही नहीं। पण्डितजी ने मुझे अति संक्षिप्त उत्तर दिया - अरुण कुमार जी! उनके पास व्यर्थ चर्चा के लिये अनन्त समय है, मेरी आयु दिन प्रतिदिन क्षीणता की ओर अग्रसर है अतः समय कम और अभी बहुत काम करना है। सचमुच वे मरणपर्यन्त कार्य करते रहे मृत्यु से पाँच दिवस पूर्व अपने गाँव साढूमल से ब्यावर तक की यात्रा किसी ग्रन्थ प्रकाशन के निमित्त की थी, जो उनकी ज्ञानसाधना के प्रति कर्मठता एवम् जीवटपना का एक अनुकरणीय उदाहरण है।

देवदर्शन और जिन-स्तुति, नितप्रति पूजन करने का उनका नित्य नियम था। एकदा किसी श्रेष्ठी ने उन्हें कहा, पण्डितजी आप अष्टद्रव्य पूजन तो करते नहीं, उन्होंने उत्तर दिया मैं अष्टविध पूजन एक बार नहीं, बल्कि द्वादशांग पूजन पूरे दिवस पर्यन्त करता हूँ। ऐसे द्वादशांग जिनवाणी के महान् भक्त पूजक, आराधक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे -पं. हीरालाल जी शास्त्री।

हीराश्रम साढूमल (ललितपुर) में श्रुताराधन करते हुए पूज्य पण्डितजी सन् 1981 की फरवरी मास में परलोक सिधार गये, उनकी पुद्‌गलमयी काया तो पुद्‌गल में ही विलीन हो गयी, परन्तु उनके द्वारा अनूदित, व्याख्यात एवम् सम्पादित ग्रन्थ-रचनाओं के माध्यम से वे साहित्य जगत् में सदाअमर रहेंगे, उनके द्वारा किये गये कार्य विद्वजगत् में प्रकाश स्तम्भ बनकर साहित्योद्धार की दिशा में सदा प्रदर्शक बने रहेंगे।

आदरणीय पण्डितजी के स्थितिकाल में प्राचीन आचार्यो के द्वारा प्रणीत साहित्य का विशाल भाग प्रकाश में नही आ सका था। बहुत आवश्यकता थी विविध शास्त्र भण्डारों बन्द, दीमक भक्षित होते हुए यत्र-तत्र विकीर्ण जैन साहित्य के संग्रहण पूर्वक उनके भाषा रूपान्तर एवम् आधुनिक पद्धति के अनुकूल सम्पादनोपरान्त प्रकाशन की। पण्डितजी ने ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन में सेवा के माध्यम से विकीर्ण साहित्य के संग्रह एवम् संरक्षण में तो अपनी पहली भूमिका निभायी। साथ ही, विशाल परिमाण में प्राचीन जैन साहित्य का सम्पादन एवम् अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित कराया। विशेष बात यह है कि विषय विवेचन की सूक्ष्मता एवम् प्रतिपादन के विस्तार वाले

जैनाचार्य प्रणीत ऐसे ग्रन्थ महार्णवों का भी कार्य हाथ में लेने से पण्डित जी नहीं घबराए, जिन्हें देख अच्छे-अच्छे विद्वानों का भी गर्व खर्व होने लगता है। आप द्वारा मेरी जानकारी अनुसार निम्न ग्रन्थों की संपादन अनुवाद एवम् व्याख्या की गयी;-

आगम ग्रन्थ	1. धवल सिद्धान्त के 5 भाग पूर्ण एवम् छठा आधाभाग
कर्म-सिद्धान्त	2. प्राकृत पञ्चसंग्रह एवम् 3 कर्म प्रकृति
काव्य ग्रन्थ	4. दयोदय चम्पू, 5. सुदर्शनोदय महाकाव्य, 6. जयोदय महाकाव्य(पूर्वार्द्ध), 7. वीरोदय महाकाव्य एवम् 8. वीरवर्द्धमान चरित्र
न्याय एवम् दर्शन ग्रन्थ	9. प्रमेय रत्नमाला
श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ	10. दशवैकालिक सूत्र-प्रवचन संग्रह पाँच भाग
	11. जीत सूत्र, 12. दशा श्रुतस्कन्ध
	13. निशीथ सूत्र, 14. स्थानांगसूत्र व 15. समवांयाग सूत्र
श्रावकाचार	16. श्रावकाचार संग्रह पाँच भाग (जिसमें 33 श्रावकाचारों का संग्रह है)
	17. वसुनन्दि श्रावकाचार एवम् 18. जैन धर्मामृत

इस ग्रन्थों का सकल कलेवर 20,000 पृष्ठों से भी ज्यादा है। मेरी जानकारी अनुसार अन्तिम समय में आपने श्वे. जैन ग्रन्थ नन्दिसूत्र की हिन्दी टीका तथा जैन मन्त्रशास्त्र ग्रन्थ तैयार किया था, जिनके प्रकाशन की सूचना उपलब्ध न हो सकी। जैन मन्त्र शास्त्र, ग्रन्थ विषयक जानकारी मुझे भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जी द्वारा प्राप्त हुयी थी।

षट्खण्डागम: प्रस्तुत ग्रन्थ अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर रूप हिमाचल से नि:सृत द्वादशांग वाग्गंगा की अवच्छिन्न परम्परा का ग्रन्थरत्न है। यह दिगम्बर परम्परा की अनुपम निधि है। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि नि:सृत द्वादशांग जिन वाणी का ज्ञान, आचार्य परम्परा से क्रमश: ह्रास होता हुआ आ. धरसेन तक आया। धरसेन आचार्य अंगों एवम् पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे एवम् श्रुत

संरक्षण से चिन्तित, यत: निमित्तज्ञान द्वारा उन्होंने जान लिया कि काल-दोष के कारण आगामी समय में अंगों के आंशिक ज्ञान को धारण करने की मेधावाले भी नहीं रहेंगे अत: लिपिबद्ध करने हेतु उन्होंने महिमा नगरी से मुनि श्री पुष्पदन्त एवम् भूतबली को आहूत कर उनकी परीक्षा कर, श्रुत-परम्परा के संरक्षणार्थ लिपिबद्ध करने के अभिप्राय से आगम सिद्धान्त सिखाया, जिन्होंने अपने गुरु की भावना के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ को प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किया।

प्रस्तुत आगमग्रन्थ में छह खण्डों में जीवट्ठाण, (2) खुद्दाबन्ध (3) बन्ध स्वामित्व विचय (4) वेदना (5) वर्गणा एवम् (6) महाबन्ध। इन छह खण्डों के प्रथम खण्ड में सत्संख्यादि अष्टविध अनुयोग द्वारों, 14 गुणस्थानों और मार्गणाओं का आश्रय पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वितीय खुद्दाबन्ध में प्ररूपणाओं में कर्मबन्ध करने वाले जीवन का वर्णन किया गया है। तृतीय बन्ध स्वामित्त्वविचय में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है और किसके नही। किन गुणस्थानों में कितनी प्रकृतियों का बन्ध, सत्त्व, उदय और व्युच्छित्तियाँ होती हैं आदि का सूक्ष्म एवम् विशद विवेचन है। चतुर्थ वेदनाखण्ड में कृति और वेदना अधिकार वर्णित है। पञ्चम वर्गणाखण्ड में 23 प्रकार की बन्धनीय वर्गणाओं का तथा स्पर्श, कर्म प्रकृति आदि का वर्णन मिलता है। षष्ठ महास्कंघ में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग व प्रदेशबन्ध का सविस्तर वर्णन मिलता है

षट्खण्डागम ग्रन्थ पर आ. कुन्दकुन्द एवम् समन्त-भद्राचार्यादि अनेक आचार्यो ने टीका लिखी, परन्तु वे आज उपलब्ध नहीं। सम्भवत: सबसे विशालटीका 72 हजार श्लोक प्रमाण टीका ईसा की आठवीं/नवमी शताब्दी के महान् आचार्य वीरसेन स्वामी ने संस्कृत एवम् प्राकृत में लिखी। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पांच भाग पर लिखित टीका धवला एवम् षष्ठ महाबन्ध खण्ड की टीका महाधवला के नाम से ज्ञात है।

धवला एवम् महाधवला टीका समन्वित उक्त आगम ग्रन्थ मूडबिद्री के ग्रन्थागार में कन्नड लिपि में सुरक्षित थीं, जो मात्र शोभा एवम् दर्शन की वस्तु थीं, जिनके बाहर आने एवम् लिप्यन्तर कराने की कहानी लम्बी है, उसके पकाशन हेतु ग्रन्थ के सम्पादन, एवम् अनुवाद कार्यो में प्रो. डॉ. हीरालाल जैन,

पं. श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी आदि के साथ पण्डित श्री हीरालाल जी शास्त्री ने साहाय्य कर जिनवाणी की अविस्मरणीय सेवा की है। सम्पूर्ण धवला टीका 16 भागों में प्रकाशित हुयी, जिनमें से आपने प्रारम्भ के 5 भागों को सम्पादन और अनुवाद किया है, जैसा कि आपने स्वयं लिखा है परन्तु प्रारंभिक दो भागों में ही आपका नामोल्लेख है।

कन्नडी लिपि मूल से रूपान्तर करने में अनेकत्र भ्रमवश अनेक अशुद्धियाँ थी। उनके शुद्ध पाठ निर्धारण में विद्वान् संपादक पं. हीरालाल जी ने गहन अध्यवसाय किया है। उसमें जो प्रक्रिया एवम् नियम अपनाये गये प्रस्तावना में वर्णित हैं, जिससे संपादक की सूक्ष्मेक्षिका का ज्ञान मिलता है।

ग्रन्थ का इतिहास, आधारभूत पाण्डुलिपि में रचनाकार का काल निर्धारण सहित संपूर्ण परिचय टीकाओं एवंम् टीकाकारों की साङ्गोपाङ्ग. ऐतिहासिक खोजपूर्ण विवेचना, ग्रन्थ की भाषा आदि का विमर्श भी प्रस्तावना में विस्तार से उपलब्ध है। ग्रन्थान्त में 6 परिशिष्ट ततोऽधिक शोध सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

प्रमेयरत्नमाला- यह ग्रन्थ जैनन्याय विद्या में प्रवेश कराने के लिये विरचित आद्य सूत्र ग्रन्थ माणिक्यनन्दी रचित परीक्षामुख के सूत्रों पर लघु अनन्तवीर्य द्वारा रचित लघुवृत्ति है। जिस प्रकार ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है, उसी प्रकार जैन न्याय में प्रवेश हेतु माणिक्यनन्दी ने विक्रम की दशम शताब्दी में परीक्षामुख ग्रन्थ रचकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की।

परीक्षामुख पर आचार्य प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमल मार्तण्ड, भट्टारक चारुकीर्ति ने प्रमेय रत्नालंकार एवम् प्रस्तुत प्रमेयरत्नमाला आदि टीकाएँ लिखी गयी हैं।

ग्रन्थ में छह समुद्देशों में मूख्यत: प्रमाण एवं प्रमाणभास का वर्णन है। प्रथम समुद्देश में प्रमाण का स्वरूप, विशेषणों की सार्थकता, प्रमाण के स्व-पर व्यवसायात्मकता की सिद्धि, प्रमाण का प्रामाण्य कथञ्चित् स्वत: कथाञ्चद् परत: सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश में प्रमाण के भेदों का वर्णन कर अर्थ एवम् आलोक के ज्ञान की कारणता का निरास सयुक्ति रीति से प्रतिपादित है। तृतीय समुद्देश में

परोक्ष प्रमाण का स्वरूप परोक्ष के भेद, हेतु का स्वरूप पक्ष का प्रतिपादन अनुमान के पच्चावयव वाक्यों, उपनय और निगमन को अनुमानाङ्ग मानने में दोषोद्भावन आदि का वर्णन है। चतुर्थ समुद्देश में सामान्य-विशेषात्मक उभय-रूप विषय की सिद्धि की गयी है। पच्चम समुद्देश में प्रमाण के फल पर चर्चा की गयी है। षष्ठ समुद्देश में प्रमाणाभास का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

पं. श्री हीरालाल जी शास्त्री ने प्रस्तुत प्रमेयरत्नमाला ग्रन्थ की हिन्दी व्याकरण अज्ञान-कर्तृक टिप्पण एवम् पण्डित श्री जयचन्द्र जी की हिन्दी वचनिका के आधार पर की है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना जैन एवम् बौद्ध दर्शन के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रो. उदयचन्द्र जी जैन ने लिखी है। जिसमें आपने अष्टसहस्री के टिप्पण एवम् प्रकृत ग्रन्थ के टिप्पण की तुलना कर टिप्पणकार का नाम लघुसमन्तभद्र सिद्ध किया है।

हिन्दी व्याख्याकार पण्डित हीरालाल जी ने प्रकृत ग्रन्थ के सरल अनुवाद के साथ ग्रन्थ की नाना ग्रन्थियों को विशेषार्थ में उद्घाटित किया है। न्यायग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों के प्रचुरता के साथ शब्दलाघव की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसके कारण अर्थ खुलासा करना टेढ़ी खीर हो जाता है, परन्तु लघुसमन्तभद्र के टिप्पण एवम् पं. श्री छावड़ा जी वचनिका के आधार पर ग्रन्थ के हार्द को हस्तामलकवत् विशद किया है। ग्रन्थ में सम्पूर्ण टिप्पण फुटनोट मे संयोजित ग्रन्थ के महत्त्व को द्विगुणित किया है। ग्रन्थान्त में टीकाकार की प्रशस्ति, सूत्रपाठ, ग्रन्थ के सूत्रों की प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनयतत्त्वालोक, से तुलना की तालिका, पारिभाषिक शब्द सूची, ग्रन्थोद्धृत गद्यावतरण एवं पद्यावतरणसूची (सन्दर्भ), प्र.र.मा.कार रचित श्लोक, टिप्पणस्थ श्लोक सूची, ग्रन्थागत दार्शनिक, ग्रन्थ, एवम् जैनाचार्यो की सूची सहित नगर देश नाम सूची 16 परिशिष्ट देकर ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाते हुए सम्पादन पद्धति के प्रतिमानों की पालना की गयी है।

निष्कर्षतः प्रस्तुत अनुवाद एवम् व्याख्या पण्डित जी के अध्यवसाय एवम्

न्याय विद्या पर उनके गहन अध्ययन की परिचायिका है एवम् विद्यार्थियों के साथ एतद्विषयक विद्वानों के लिये भी उपयोगी है।

श्रावकाचार संग्रह (पांच भाग)

पं. श्री हीरालालजी ने श्रावकाचार विषय के विविध आचार्यों के मन्तव्यों के एकत्र संयोजन हेतु तथा श्रावकाचारों के क्रमिक विकास के अध्ययनार्थ शोधार्थियों के सौविध्य हेतु अनेक सरस्वती भण्डारों से खोज-खोज कर एतद्विषयक सामग्री का संकलन कर तथा पुराणों में आगत श्रावकाचार विषयक सामग्री का संयोजनकर एवम् विद्वत्तापूर्ण सम्पादन एवम् अनुवाद के साथ 33 श्रावकाचारों को 5 जिल्दों में प्रकाशन का कार्य किया है।

इसके पूर्व आपके द्वारा वसुनन्दिश्रावकाचार एवम् जैन धर्मामृत का सुन्दर सम्पादन एवम् अनुवाद भा. ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित कराया गया था।

वीरोदय महाकाव्य- बींसवीं शताब्दी के मूर्धन्य महाकवि बृहत्चतुष्ठयी की रचना जयोदय महाकाव्य के रचयिता ब्र. भूरामल शास्त्री द्वारा रससिद्ध लेखनी से प्रस्तुत वीरोदय महाकाव्य का सुन्दर सम्पादन भी आपकी प्रतिभाद्वारा किया गया है, यद्यपि उक्त ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्राचीन हिन्दी में महाकवि ने स्वयं किया था, पं. जी ने रूपान्तरण के साथ सम्पादन किया एवम् महाकाव्य के नायक भ. महावीर चरित विषयक दिगम्बर एवम् श्वेताम्बर साहित्य का आलोडन कर उसका नवनीत प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

विशिष्ट बात यह कि प्रस्तावना में ग्रन्थ प्रकाशन काल तक अप्रकाशित महावीर चरित्र विषयक सामग्री का सार भी प्रस्तुत किया जिसमें-असगकवि का वर्धमान चरित, भट्टारक कीर्ति विरचित वीरवर्धमान काव्य, रइधु विरचित - महावीर चरित सिरिहर विरचित-वड्ढमाणचरिउ, कुमुदचन्द्र विरचित-महावीररास, आदि का अध्ययन सार प्रस्तुत किया है। सारांशत: सम्पादक महोदय ने वीरोदय महाकाव्य के वैशिष्ट्य के प्रतिपादन के साथ अपनी विशाल प्रस्तावना में यत्र तत्र उपलब्ध दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्य प्रणीत संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवम् हिन्दी भाषा निबद्ध महावीर चरितों को तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर जिज्ञासुजगत पर महदुपकार किया है।

महावीरकाल की सामाजिक दशा एवम् जातिवादी व्यवस्था की मीमांसा करते हुए प्रस्तावना में वैदिक एवम् बौद्ध साहित्य का भरपूर उपयोग करते हुए उनके मत सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं।

इन सभी ग्रन्थों का सम्पादन पण्डित जी द्वारा अधुनातन साहित्य मीमांसक विद्वानों द्वारा स्वीकृत मानदण्डों के अनुरूप ही किया गया। तदनुसार ग्रन्थों के शुद्ध एवम् प्रामाणिक पाठों हेतु न्यूनतम तीन पाण्डुलिपियों का उपयोग किया जिसमें सर्वाधिक शुद्ध प्रति मूल रूप में देकर पादटिप्पण में अन्य प्रतियों के पाठभेद का संकेत किया गया। पादटिप्पणियों में सम्बन्धित विषय में अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख ससन्दर्भ किया गया।

पण्डित जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता ग्रन्थारम्भ में उनके बहुविद्या-वेतृत्व की निदर्शक विद्वत्ता पूर्ण **प्रस्तावनाएँ** हैं, जिनमें ग्रन्थकार का काल निर्धारण, आचार्य परम्परा - गुर्वावलि पूर्ववर्ती आचार्यों का रचना प्रभाव व रचना का परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव ग्रन्थ विषयक अन्य साहित्य का वर्णन ग्रन्थ का प्रतिपाद्य एवम् उस पर तुलनात्मक अध्ययन व ऊहापोह ग्रन्थ की भाषा शैली प्रयुक्त पाण्डुलिपियों की प्रति का परिचय, उनके गहन अध्यवसाय एवम् विषय-पारंगतता के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की विशेषताओं में दूसरी प्रमुख विशेषता है, ग्रन्थान्त में विविध **परिशिष्टों** की संयोजना। परिशिष्टों में यदि सूत्र ग्रन्थ है तो सकल सूत्रों सूची, पद्यमय ग्रन्थों में ग्रन्थ के पद्यों की अकारादिक्रम से पद्यानुक्रमणिका, ग्रन्थागत अवतरणों/उद्धरणों की सूची एवम् उनके सन्दर्भ, ग्रन्थोल्लिखित ऐतिहासिक राजा, आचार्य, श्रावक, आदि की सूची भौगोलिक सूची ग्रन्थनामोल्लेखों की सूची वंशो की सूची, जोडी गयी हैं, जो अध्येता विद्वानों के लिये काफी उपयोगी साबित होती हैं।

-सेठ जी की नसियां
ब्यावर

भगवान् ऋषभदेव एवं श्रमण परंपरा : महत्वपूर्ण गणितीय एवं ऐतिहासिक पक्ष

- डॉ. अभय प्रकाश जैन

श्रमण परम्परा की प्राचीनता अब पूर्णत: सर्वमान्य हो चुकी है। इसमें सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के अनेक प्रकरण भारत के प्राचीनतम ग्रंथों में तथा पुरातत्व सामग्री में अनेक शोध-पत्रों के विषय बन चुके हैं। अभिनावावधि में प्रकाशित जैन द्रव्यानुयोग एवं करणानुयोग ग्रंथों में प्राप्य सामग्री उक्त काल एवं युगों की उच्चतम सभ्यता, ज्ञान, विज्ञान की अनुपम झलक देती है। प्रस्तुत पत्र में शोध शैली में एतद्संबंधी नवीनतम गणितीय एवं ऐतिहासिक पुरातत्व संबंधी प्रकाश डाला गया है।

श्रमण संस्कृति के आदीश-जिन प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता पुरातात्त्विक प्रमाणों एवं ऋग्वेदादि प्राचीनतम वैदिक ग्रंथों में सादर उल्लेख के प्रकाश में सिद्ध व स्थापित हो चुकी है।

सिंधु-हड़प्पा सभ्यता में गणित के प्रयोग

मोहनजोदड़ों में (पुरातत्त्व संबंधी खुदाई के फलस्वरूप) अनुसंधान हुए हैं। खुदाई का कार्य इस प्रकार प्रारंभ हुआ। स्व. राखालदास बेनर्जी पुरातत्व विभाग के उच्च पदाधिकारी थे। वे पाँच वर्षों तक लगातार सिकंदर के द्वारा भारत में बनवाए हुए बारह स्तंभों को ढूंढने में लगे हुए थे। 1922 के शीतकाल में रास्ता भूल जाने के कारण घोड़े पर सवार वह एक टीले पर जा पहुंचे। उन्हें वहां प्राचीन प्रकार का एक चाकू प्राप्त हुआ। अनुमान लगाया गया कि कोई पुरानी सभ्यता भूमि में नीचे दबी है। उन्होंने खुदाई प्रारंभ की। 1925 में सर जॉन मार्शल की देखरेख में और खुदाई हुई। 1931 तक ई. जे. मइके भी इस कार्य में लगे रहे। यह मोहनजोदड़ो की खुदाई थी। यहाँ पता चला कि ईसा के लगभग 3000 वर्ष पूर्व सिंध के निवासी हिन्दू लोग खास माप की ईटों के मकान बनाते थे। नगरों का गणितीय-यांत्रिक विधि से नियोजन करते थे। वे

सोना, चांदी, तांबा और जस्ता आदि धातुओं के माप-जोख वाले प्रयोग करते थे। उनका जीवन अत्यंत सुव्यवस्थित था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त मुहरों और लेखों के अंकसूचक चिन्ह थे, और हालांकि अभी तक पूर्ण रूप से नहीं पढ़े जा सके है। परन्तु उनमें कहीं-कहीं एक खड़ी पाई या एक के ऊपर एक रखी कई खड़ी पाईयां मिली हैं। ज्ञात हुआ है कि एक से तेरह तक के अंक इन्हीं खड़ी पाईयों द्वारा सूचित किये गए हैं।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि 20,30, सैकड़े और अधिक की संख्याओं को लिखने के लिए भी उस समय संकेत थे अथवा नहीं। यद्यपि ऐसे अनेक चिन्ह मिलते हैं जिनके विषय में लोगों का विश्वास है कि वे बड़ी संख्याओं को बतलाते हैं। परन्तु अभी तक उन चिन्हों का सर्वसम्मत् मान पता नहीं चल सका है।

मोहनजोदड़ो में प्राप्त सामग्री तथा अशोक के अंक-गर्भित अंतलेखों के बीच प्रायः डेढ़ हजार या अधिक वर्षों का अंतराल है। इस अंतराल के काल में अभी तक कोई ऐसा लिखित प्रलेख (स्टेला) नहीं मिला जिसमें अंक चिन्हों का प्रयोग किया गया हो।

मोहनजोदड़ो के उत्तर में 400 मील पर दयाराम सहानी ने और उनके पश्चात् माधो म्वरूप वत्स ने खुदाई की जो कि हड़प्पा खुदाई के नाम से जानी गई। इन दोनों स्थानों की खुदाई में नाना प्रकार की वस्तुओं के साथ लगभग 3000 मुद्राऐं भी निकलीं। जो आज भी गूढ़ाक्षर-वेत्ताओं के लिए समस्या बनी हुई हैं। खुदाई की प्राप्त वस्तुओं से सिद्ध हुआ कि मोहनजोदड़ो एक द्वीप था जहां की सभ्यता का प्रभाव ईरान ओर ईराक की सभ्यताओं पर पड़ा था। सर जॉन मार्शल तथा मइके और वत्स ने इन सभी चित्रों को तथा संख्याओं को बहुत साफ सुथरे तौर पर छापा है। सिंधु घाटी की सभ्यता प्रायः 4000 वर्ष पुरानी है। जो कि उसका अंतिम काल था। इसमें यदि 5000 और जोड़ दिये जाऐं तो हम उस सभ्यता के जन्म के समीप पहुंच सकते हैं। यहां की लिपि में चिन्ह और चित्र दोनों पाए जाते हैं, जो कभी दायें से बायें, कभी बायें से दायें ओर कभी दोनों ओर से लिखे मिलते है। कुछ मुद्राओं में केवल लिपि है कुछ में केवल चित्र है और कुछ में चित्र और लिपि दोनों हैं। मार्शल ने

सील-**एम. आई. सी. पी. एल.** -12 **वीं, नं.**-17 में जो मनुष्य का आकार है उसको उन्होंने पशुओं से घिरे रहने के कारण पशुपतिनाथ माना है। मार्शल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यहां द्रविड़ सभ्यता थी ओर आर्य जाति विदेशों से लगभग 3500 वर्ष पूर्व भारत में आई। पशुपति वाली मुद्रा को विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से पढ़ा है। सुधांशु कुमार रे ने सिंधु लिपि में 288 वर्णात्मक चिन्ह माने हैं और विभिन्न मुद्राओं के चिन्हों से लिपि बनाने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। अभी तक इस वर्णमाला का संबंध "**ब्राम्हीलिपि**" से जोड़ने का प्रयास किया जाता रहा है किन्तु अभी तक कोई भी सर्वसम्मत हल पर नहीं पहुंच सका।

वस्तुत: ब्राम्ही और सुंदरी लिपियों के आविष्कार पर प्रो. एल. सी. जैन, जबलपुर के पांच लेखों (**अर्हत वचन** [1] में प्रकाशित) में जो परिपुष्ट साक्ष्य एवं प्रमाण उपलब्ध हैं, वे दो हैं :-

पुरातात्त्विक दृष्टि से अशोक के अभिलेख भारत की ऐतिहासिक युग के प्राचीनतम अभिलेख हैं। विशेष बात यह ध्यान देने की है कि सैंधव सभ्यता के पतन (18 वीं शती ई. पू.) और अशोक (3 री शती ई. पू.) के मध्य व्यतीत होने वाले लगभग 1500 वर्षों का एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। स्वतंत्र भारत में वैदिक काल में अनेक स्थलों का काफी विशाल पैमाने पर उत्खनन भी किया जा चुका है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस बीच भारत के लोग लेखन कला से अपरिचित थे।

दूसरा, इस तर्क के समर्थन में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज, जो 300 ई. पू. चंद्रगुप्त मौर्य की सभा में था, को "**भूगोल**" नामक गंथ में **स्ट्रैबो** ने इस प्रकार उद्धृत किया है, "मेगस्थनीज कहता है, कि जब वह सेंड्रोकोटोस (चंद्रगुप्त मौर्य) के दरबार में था, यद्यपि शिविर की जनसंख्या 40 हजार थी, उसने किसी दिन भी 200 **देख्म** से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी की रिपोर्ट नहीं सुनी, और वह भी ऐसे लोगों के बीच में, जो 'अलिखित कानूनों' का ही प्रयोग करते हैं क्योंकि" वह आगे कहता है, "उनको लेखन कला ज्ञान नहीं है। और वह सभी बातों को स्मृति की सहायता से नियमित करते हैं"।[2] मेगस्थनीज का यह कथन अशोक के पूर्व 15 सदियों तक अभिलेखों को पूर्व

अनुपलब्धि के साथ पूर्णत: संगत है। वह प्रमाणित करता है कि भारत (पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर) में लेखन कला का अस्तित्व चंद्रगुप्त मौर्य के युग तक नहीं था। इस प्रकार के चौदह तर्क श्री राम गोयल ने प्रस्तुत किये हैं।[3]

प्रो. एल. सी. जैन द्वारा निर्देशित लेखो[1] में (अर्हत् वचन में प्रकाशित) इस संभावना की अभिव्यक्ति भी है कि जो "कर्म सिद्धान्त" दिगम्बर जैनाचार्यो के पास शेष रहा था, उसे सुरक्षित रखने हेतु भद्रबाहु और उनके शिष्य चंद्रगुप्त मौर्य (मुनि प्रभाचंद्र) ने बारह वर्ष की समाधि काल के दौरान ब्राम्ह्मी और सुंदरी क्रमश: भाषा के व्याकरण और गणित की लिपियों (अंक) का आविष्कार कर लेख रूप में रचित की होंगी, जिनके दो रूप गुणभद्राचार्य कृत कषाय प्राभृत और पुष्पदंत भूतबलि आचार्य कृत षट्खंडागम के रूप में अनेकानेक टीकाओं सहित तथा नेमिचंद्र चक्रवर्ती कृत 13 वीं सदी के लब्धि-सार और गोम्मटसार तथा उनकी टीकाओं सहित 13 वीं सदी तक कर्नाटक वृत्ति के रूप में गणतीय संदृष्टियों सहित हमारे सामने उपलब्ध हैं। उक्त साहित्य इस तथ्य का सक्षम व पुष्ट प्रमाण है कि इन दोनों लिपियों का आविष्कार अशोक के पूर्व चंद्रगुप्त मौर्य की दीक्षा होने के पश्चात् दक्षिण में श्रवण बेलगोल पर प्रारंभ हुआ होगा जहां से शेष मुनिसंघ को और आगे दक्षिण भारत में बढ़ने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्देश दिया था।

पुरातात्त्विक प्रमाण - सैन्धव हड़प्पा सभ्यता में मिली मुहरें, छापे, शिलालेखों के अंश आदि कुछ ऐसी वस्तुऐं हैं जिनका सीधा संबंध भगवान ऋषभदेव व श्रमण परंपरा से है।

1928 ई. में खुदाई से प्राप्त एक मुहर (सी क्रं. 620, जो कि केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित है) में "जैन विषय एवं पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित/समायोजित किया गया है कि वे जैन पुराततव, इतिहास व परंपरा की एक प्रतिनिधि निधि बन गए हैं"।[4]

इस सील में दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान ओर सम्यक् चारित्र) का प्रतीक है। ऊपर की तरफ कल्पवृक्ष पुष्पावली तथा

मृदुलता अंकित हैं। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीय धारण किए हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) हैं, जो ऋषभदेव का लांछन (चिन्ह) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

पउमचरियं [2] छक्खंडा-मंगलायरण [6], आदिपुराण[7] आदि की कारिकाओं/गाथाओं में जो वर्णन मिलते है, उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिंब भाव देखा जा सकता है। इन व्याख्याओं के निरीक्षण से इस तरह की सील या मुद्रा के प्रचलन की व्यापकता का मत मजबूत होता है, क्योंकि मोहनजोदड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह सामय आकस्मिक नहीं हो सकता अवश्य ही यह एक अविछिन्न परंपरा की ठोस परिणति है।

मुहर की कल्पवृक्ष तथा मृदुलता की आकृतियों का विवरण इस प्रकार है- दो ऊर्ध्वगं कल्पवृक्ष-शाखाऐं हैं पुष्प-फल-युक्त, महायोगी ऋषभदेव उससे परिवेष्टित हैं, यह भक्ति-प्राप्य फल का द्योतक है [8] चक्रवर्ती भरत भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम मुद्रा में नतशीश हैं। [2] कोमलदिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमंडल के पास सुशोभित है। [2] अधोभाग में हैं, अपने राजकीय गणवेश में सात मंत्री, जिनके पदनाम हैं [4] :-मांडलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भंडारी (कृषि वित्त मंत्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षामंत्री), मित्र (परराष्ट्र मंत्री)।

सिंधुघाटी से प्राप्त कुछ सीलों में स्वस्तिक (साथिया) भी उपलब्ध है, निष्कर्षत: तत्कालीन लोकजीवन में स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक था। साथिया जैनों में व्यापक रूप में पूज्य और प्रचलित है। [2] स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियां वर्णित हैं: नरक, निर्यच, मनुष्य और देव। 'स्वस्तिक' का एक अर्थ कल्याण भी है।

पौराणिक परंपरा में ऋषि और मुनि - वैदिक परंपरा का आदर्श पुरुष ऋषि, तथा जैनधर्म के नियम, आचार व सिद्धान्त का आदर्श रीति से पालन

करने वाला पुरुष, मुनि कहलाता है। ऋषि शब्द जहाँ प्रवृत्ति-परायणता का वाचक है, मुनि वहीं निवृत्ति-परायणता का। पुराणों के प्रमाण से ब्रम्हाजी ने प्रलय के बाद प्रजा की उत्पत्ति और वेदों की रक्षा हेतु एक मनु और सात ऋषियों को उत्पन्न किया।[10] इन सप्तर्षियों के पूर्ववर्ती दिगंबर जैन मुनि सनन्दन आदि की उत्पत्ति ब्रम्हाजी के साथ ही भगवान् शिव के द्वारा हुई।[11] इस प्रकार वैदिक पुराण स्वयं ही मुनियों का अस्तित्व ऋषियों से पूर्व ही स्वीकारते हैं।

वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में न केवल मुनियों का उल्लेख है, बल्कि उनको या उनकी एक विशेष शाखा को वातरशना मुनि कहकर उनकी वृत्तियों का विवरण भी दिया गया है।[12] मुनियों के साथ "वातरशना" विशेषण, ऋषि पृथक् वैराग्य, अनासक्ति, मौनादि वृत्तियों वाले मुनियों को विशेष अर्थ देता है। वात-रशना (वायु-मेखला) से अर्थ है जिनका वस्त्र वायु हो अर्थात् नग्न। "वातरशना" जैन परंपरा में नितांत परिचित शब्द है। जिनसहस्त्रनाम में इसका उल्लेख है-

"दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थज्ञोनिरम्बरः"-महापुराण २५/२०४

अतः स्पष्टतया, ऋग्वेद की रचना के समय दिगंबर मुनि परंपरा विद्यमान, प्रतिष्ठित एवं स्तुत्य थी। इसके बाद के अर्थात् **उत्तरकालीन वैदिक परंपरा में** वातरशनामुनि पूर्ववत् सम्मान पाते हुए ऊर्ध्वरेता (ब्रम्हचारी) और **श्रमण** नामों से भी अभिहित होने लगे थे।

"वातरशना हवा ऋषयः श्रमणाः ऊर्ध्वमथिनो वभूवः"।[13]

पद्मपुराण (6/212) के अनुसार "तप का नाम ही श्रम है, अतः जो राजा राज्य का परित्याग कर तपस्या से अपना संबंध जोड़ लेता है, वह **श्रमण** कहलाने लगता है"।

अथर्ववेद के पंद्रहवें व्रात्यकांड का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण कर विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि "व्रात्य" जैनों को ही संबोधित किया गया है।[14]

पुरातात्त्विक, भाषा-वैज्ञानिक एवं प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन से व्रात्य, श्रमण या अर्हत संस्कृति से द्रविड़, असुर, राक्षस, म्लेच्छ, दास, नाग आदि प्रसिद्ध अनार्य जातियों के भली-भाँति जुड़े होने के प्रमाण मिले हैं।

वैष्णव परंपरा के महान् ग्रंथ श्री मद् भागवत् के पाँचवे स्कन्ध में महर्षि शुकदेव ने ऋषभदेव की देशकालातीत महिमा का गुणगान इन शब्दों में किया है:-

"भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नामेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरूदेव्यां धर्मान् दर्शायतुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार" 5/3/20

अर्थात् महर्षियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर श्री विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अंत:पुर में मेरूदेवी (मरूदेवी) के गर्भ से ऊर्ध्वरेता, वातरशन नग्न श्रमण ऋषियों का धर्म संकट प्रकट करने के लिये शुक्ल अर्थात् शुद्ध निर्मल सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए। पहले जैन तीर्थंकर का **ऋषभ** नामकरण, उनके राज्य का नामकरण **अजनाभ** होना फिर बदल कर **भारत** होना क्रमश: पाँचवें स्कन्ध से ही 4/2, 4/2 एवं 4/9 में स्पष्टतया वर्णित है।[15]

अंत में-

यदि पुराणों और ग्रंथों में लिखी गई पंक्तियों में उनके लेखकों/रचताओ की मूलभूत विचारधारा और विषय वस्तु को खोजा जाये तो सत्य ही सामने आता है। सत्य तो दिगम्बर ही होता है। लेखन में अतिशयोक्ति व काल्पनिक अवधारणा रूपी आवरण का उपयोग तथ्य को सत्य से दूर ले जाता है। पुन: - पुन: आवश्यकता है- श्रमण संस्कृति के प्राचीनतम उपलब्ध शिलालेखों व लिपियों की पूर्वाग्रहरहित समीक्षा की।

संदर्भ सूची :-

1. **प्रोफेसर एल. सी. जैन** (1) हीनाक्षरी और घनाक्षरी का रहस्य, अर्हत-वचन, वर्ष-1(2), 11-16, 1998. (2) ब्राम्ही लिपि का अविष्कार एवं आचार्य भद्रबाहु मुनिसंघ (अर्हत वचन 2(2), 17-26) एवं 2(3) 1-12, 1290. 93) क्या सम्राट चन्द्र-गुप्त दक्षिण भारत में मुनि रूप में

ब्राम्ही लिपि के आविष्कार में सहयोगी हुए? 4(1) 13-20 जनवरी 92. तथा 5(3), 155-171, जुलाई 93.

2. **मजूमदार**, क्लासिल एकाउन्ट ऑफ इंडिया, 210
3. **श्री राम गोयल**, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-1, पृष्ठ 18-27, जयपुर 82
4. **आचार्य विद्यानन्द**, मोहन जोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण, ऋषभ सौरभ 92, पृष्ठ 1-8
5. **विमल सूरि**, पउमचरियं, 4/68-69
6. **वीरसेनाचार्य**, छक्खंडा - मंगलायारण, 1/1/25
7. **जिनसेनाचार्य**, आदि पुराण 24/73-74
8. **वही**-15/36 एवं पार्श्वदेव समयसार 7/96
9. **अर्हददास**, पुरूदेवचम्पू प्रबंध 1/1
10. **विष्णु पुराण** 1/22/35
11. **शैव ग्रन्थ**, लिंगपुराण
12. **ऋग्वेद** 10/136/2
13. **तैतिरीय** आरण्यक 1/26/7
14. **डॉ. फूलचन्द प्रेमी**, व्रात्य और श्रमण संस्कृति, ऋषभ सौरभ 92 पृष्ठ 70-81
15. **उपाध्याय अमर मुनि**, भगवान ऋषभ देव : महर्षि शुक्रदेव की दृष्टि में ऋ. सौ. 92 पृष्ठ 9-13

-एन, 14 चेतकपुरी, ग्वालियर

अहिंसा की व्यावहारिकता

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का महत्त्व है। चाहे वह वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक हो, सभी में अहिंसा की विशेषता रहती है और बार बार इसके प्रयोग के अवसर उपस्थित होते हैं। यथा गंगा नदी की प्रत्येक लहर में जल व्याप्त है, उसी प्रकार मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा व्याप्त होती है। इसके बिना मानव का एक दिन भी कार्य नहीं चल सकता है और न चला है। जहाँ भी कोई पारिवारिक समस्या उपस्थित हुई, सामाजिक आपत्तियाँ आना शुरु हुई, धार्मिक विवाद खड़े हुए, आर्थिक उलझन आ पड़ी राजनैतिक संघर्ष की आहट हुई- सभी के समाधान के लिए मनुष्य को अहिंसा की ही शरण लेनी पड़ती है। क्योंकि अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ है, वही जीवन का सर्वस्व है। इसीलिए अहिंसा का गुणगान करते हुए कहा है-

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी, अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः।
अहिंसा दुःखदावाग्नि प्रावष्येण्य घनावली, भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधीः॥

-योगशास्त्र प्रकाश 2 श्लोक 50-59

-अहिंसा माता के समान सभी प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में अमृत की नदी है। अहिंसा दुःखरूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिंसा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औषध है। "अत्ता चेव अहिंसा" अर्थात् आत्मा ही अहिंसा है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने कहा है कि "अहिंसा सम्पूर्ण जगत् में सद्भावना, सहृदयता, सहानुभूति, जनसेवा और दया का संदेश देकर प्राणिमात्र के लिए प्रकट रूप में परमब्रह्म है।"[1] वैदिक परम्परा में इसे परमधर्म कहा है।[2] यह धर्म का प्राण है इसके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह आदि सभी व्रतों का समावेश अहिंसा में हो जाता है। श्रमणसंस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है। इसके बिना न नैतिकता जीवित रह सकती है और न ही आध्यात्मिकता। अहिंसा की व्यावहारिकता सिद्ध है। क्योंकि चाहे गृहस्थ हो या साधु सर्वप्रथम अहिंसा की प्रतिज्ञा लेता है। इसकी प्रतिज्ञापूर्वक ही जीवन विकासपथ पर बढ़ पाता है। सामाजिक जीवन का प्रथम कर्तव्य अहिंसा है। मानव सभ्यता का आदर्श है। आत्मसिद्धि के लिये अनुकूल क्रिया-कर्म, जप-तप, अनुष्ठान, त्याग व्रतादि सभी अहिंसा हैं।

अहिंसा सभी सुखों का स्रोत रही है, इसकी आराधना से मानव ने लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की सुख शान्ति प्राप्त की है। आज भी अहिंसा में वही शक्ति है। मानव के जीवन में क्लेशों और कष्टों का अन्त करने में अहिंसा आज भी उतनी ही सक्षम है, जितनी पूर्वकाल मे थी। यह तभी संभव है, जब अहिंसा का पूर्ण आदर किया जाय, उसे जीवन में उतारा जाय। मानव को मांस, मदिरा, मधु का सर्वथा त्याग करना ही होगा। हिंसा जन्य व्यापार का त्याग करना ही चाहिए। ऐसे किसी भी कार्य को जानबूझकर नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी प्राणी का प्राण हरण किया जाय।

अहिंसा को तत्त्वचिन्तकों ने चेतना विकास के लिए अपरिहार्य माना है उन्होंने इसे धर्म का स्वरूप व्याख्यायित किया है

अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके कर्तव्या प्राणिनां दया॥

अहिंसा धर्म का लक्षण, स्वरूप, आधार या मूलकेन्द्र जो कुछ भी कहें, वह सब है। अहिंसा जीवन का प्रकाश है। अहिंसक को भय नहीं होता उसका धैर्य अभेद्य किले के समान रक्षा करता है। सत्य प्रतिपादन में वह निर्भय रहता है, कोई प्रतिवादी उसे परास्त नहीं कर सकता संसार प्रपञ्चों में नहीं फंसता है, सर्वप्रिय हो जाता है। संसार का मित्र बन जाता है सम्यक्त्व के अंग वात्सल्य उपगूहन, स्थितिकरण और श्रावक के व्रत उसके जीवन के अंग हो जाते हैं। अहिंसक वृत्ति वाले की धर्म और धर्मात्माओं के प्रति प्रीति-वात्सल्य विनय जाग्रत रहता है। सतत सावधान रहता है।

जिसके चित्त में हिंसा के विचार नहीं है, उसे शेर या सांप आदि कोई भी हानि नहीं पहुँचाता है जिसके हिंसक भाव होते है, उन्हीं के ऊपर सिंहादि क्रूर प्राणी भी हमला करते है।

अहिंसक वृत्ति वाले व्यक्तियों के समक्ष हिंसक से हिंसक प्राणियों में परिवर्तन देखा जाता है भगवान् महावीर जब मुनि अवस्था में ऋजुकुला नदी के तट पर साधना में लीन थे तभी एक सिंह चमरी गाय का पीछा करता हुआ उधर पहुँचा। गाय प्राण रक्षा हेतु दौड़ रही थी कि उसके पूंछ के बाल झाड़ी मे उलझ गये। बालों के उलझने से वह खड़ी हो गयी क्योंकि चमरी गाय को अपने बाल प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं सिंह ज्यों गाय के पास पहुँचता है तो उसकी दृष्टि साधना में लीन महावीर पर पड़ती है, उन्हें देखते ही उस हिंसक वृत्ति वाले सिंह की वृत्ति बदल गयी और अपने पंजे से चमरी गाय के पूंछ के बालों को सुलझा देता है। यह है अहिंसक की भावनाओं को प्रभाव।

इसी प्रकार को प्रसंग जयपुर के दीवान अमरचन्द का है, वह व्रती थे उन्होंने मांस खिलाने का त्याग किया हुआ था। जब चिड़ियाधर के शेर को मांस खिलाने के कागजात उनके पास आये तो उन कागजो पर आज्ञा नहीं दी। कर्मचारियों ने जब कहा कि शेर का आहार ही मांस है, वह अन्य कुछ नहीं खाता, तब दीवान जी ने कहा मैं खिलाऊंगा और अगले दिन वह दूध जलेबी लेकर निःसंकोच शेर के पिंजडें में घुस गये। शेर के सामने दूध जलेबी रखकर बोले कि यदि भूखे हो तो दूध जलेबी खा लो। हाँ, यदि मांस ही खाना है, तो मैं खड़ा हूँ सामने, मुझे खा लो।

उक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि अहिंसक भाव या विचारवालों का दूसरों पर कितना प्रभाव पड़ता है।

अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोदयी है। सर्वोदय तीर्थ में अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है इसमें मानसिक, वाचिक, कायिक अहिंसाओं का महत्त्व प्रतिपादित है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्ररूप अभ्युदय के कारणों की उत्पत्ति वृद्धि में कारण होता है, वह सर्वोदय तीर्थ है।

संसार में जितने भी धर्म, पंथ, सम्प्रदाय या मत है, वे सच्चे अर्थ में धर्म हैं या नहीं, उनमें धर्म का अस्तित्व है भी या नही? उनमें धर्म का आधार है

या नहीं? जितनी भी परम्पराएं या मान्यताएं हैं या धर्म संस्थाएं हैं वे भी धर्म से अनुप्राणित हैं या नहीं? इन सबकी पहचान या कसौटी अहिंसा है।

अहिंसा के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव जाति को एकरूपता दे सके या एक सूत्र में ग्रथित कर सके। विश्व के प्रत्येक प्राणी को सुरक्षा का आश्वासन, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य का विश्वास आत्मौपम्य दृष्टिमूलक अहिंसा ही दिला सकती है। मानवों के साथ कल्पित इन औपचारिक भेदों को मिटाकर सद्भावना स्थापित करना अहिंसा का ही कार्य है। शिवार्य का भगवती आराधना में कहना है- "जिस प्रकार अणु से छोटी कोई वस्तु नहीं है। और आकाश से बड़ी कोई वस्तु नहीं। ठीक उसी तरह विश्व में अहिंसा से बढ़कर अन्य कोई व्रत या नियम नहीं है।"(गाथा. 784)

शान्ति का हनन हिंसा तथा उसकी रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा कायरों का नहीं वीरों का धर्म है। अहिंसक का हृदय उदार तो होता है पर निर्भय भी होता है। अहिंसक जीते जी शत्रु से हार नहीं मानता। अहिंसक हृदय प्राय: अवसरों पर मौन रहता है। किन्तु जब विरोधी के विरोध का अवसर आता है तो पाषाण से भी कठोर हो जाता है। दूसरों के तनिक से कष्ट पर उसका मन रो उठता है और उनकी रक्षा के अवसरों पर सिंहवृत्ति धारण कर लेता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो अहिंसा की अनिवार्यता ही है इसके बिना आध्यात्मिक गाति ही नहीं हैं। व्यावहारिक जीवन के जितने भी पक्ष हैं उन सबमें अहिंसा की मुख्यता है। माता की ममता, पिता का दुलार, भगिनी का स्नेह, पुत्र की भक्ति, राजा की सुव्यवस्था, आयात-निर्यात के साधन, आवागमन के संकेत, राजमार्गो पर प्रकाश, चौराहों पर दिशा निर्देशक, तेल, मोटर गाड़ी, स्कूटर, साईकिल आदि की लाल बत्तियां आदि सभी अहिंसा के ही भाग है।

अहिंसा में अलौकिक वीरत्व भी है पर उसकी प्रधानता साधु के जीवन में है जिसके शत्रु बाहर के पशु व मनुष्यादि नहीं हैं बल्कि अतरंग के मानसिक विकार हैं जिनके साथ वह निरन्तर युद्ध करता रहता है।

आज मानव जाति प्रकृति से हटकर विकृति की और बढ़ रही है। इसी का परिणाम है परस्पर का द्वेष बढ़ रहा है। प्रत्येक मानव एक दूसरे को विनष्ट करने पर तुला हुआ है। विनाश मानव का स्वभाव नहीं विभाव है प्रकृति नहीं

विकृति है। स्वभाव तो सृजन है। रक्षण है। जीवों की प्रकृति जीवित रहने की है जैसा कि आचार्य कहते हैं-

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिज्जिउं

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चहता। सभी को अपनी जिन्दगी के प्रति प्यार है। आदर व आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधाओ के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। अपने अस्तित्व के लिए सभी संघर्षशील हैं। जैसा मैं हूँ वैसे सभी प्राणी जीवन धारण करने वाले हैं शाश्वत सिद्धान्त को स्थापित करने वाली अहिंसा के सिवाय दूसरा कोई नहीं, यही इसकी सार्वभौमिकता/व्यावहारिकता है। आचार्य शिवार्य द्वारा भी कहा गया है-

जह ते न पियं दुःखं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोकमिओ जीवेसु होदि सदा।। 777 -मूलाराधना

जिस प्रकार स्वयं को दुःख अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार दूसरों को भी जानना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणियों को अपने समान मानना योग्य है।

आचारांगसूत्र में भी यही भाव पाया जाता है- सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय हैं वे सुख की इच्छा करते है और दुःख को प्रतिकूल मानते है। वे मरण नहीं चाहते। जीवित रहना चाहते हैं। सबको जीवन प्रिय है दशवैकालिक में भी यही कथन है कि-

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिजीउं।
तम्हा जाणवहं घोरं णिग्गंथा बज्जयंति णं।। दशवैकालिक अ0 6 गाथा।।

सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरण नहीं चाहते हैं प्राणिवध घोर निन्द्य कृत्य समझकर निर्ग्रन्थ मुनि उससे दूर रहते हैं।

रागादिभावों से ग्रस्त होना प्रमाद कहलाता है। इसीलिए हिंसा और प्रमाद रहित होने को अहिंसा कहा है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावों को त्याग करना है। प्राणियों के प्राण नाश करने मात्र को हिंसा समझना ठीक नहीं है। तात्त्विक बात तो यह है कि यदि राग, द्वेष, मोह, क्रोध, अहंकार लोभ, मात्सर्य आदि दुर्भाव विद्यमान हैं, तो अन्य प्राणी को घात न होते हुए भी हिंसा निश्चित है। यदि

रागादि का अभाव है तो प्राणिघात होते हुए भी अहिंसा है जैसा कि श्री अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

रागादिक का अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादिको की उत्पत्ति हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने जिनके ग्रन्थों की सर्वप्रथम संस्कृत व्याख्या लिखकर यश प्राप्त किया, उन आचार्यवर्य महर्षि कुन्दकुन्द ने लिखा है-

मरदु जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥२१७॥ प्रवचन सार

जीव मरे या जीवित रहे, अयत्नाचारी के हिंसा निश्चित है। यत्नाचारी के हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः॥ धवला पु. 4.5.6.93

प्रमाद हीन ही जीव रक्षा का प्रयत्न कर सकता है। जीवों का मरण हो या न हो। अयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह हिंसा करता है, जो यत्न पूर्वक आचरण करता है, वह अहिंसक होता है।

अयदाचारां समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥ प्रवचनसार 3/18

यत्नाचार रहित श्रमण छहों कार्यो के जीवों का वध करने वाला कहा गया है। यदि वह यत्नपूर्वक प्रवृत्त होता है तो जैसे कमल जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे वह हिंसा से लिप्त नहीं होता।

हिंसा का दोष मुख्यरूप से असावधानी/प्रमाद योग से ही होता है इसीलिए हिंसा की परिभाषा देते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी लिखते हैं- ''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' इस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमत्त योग' पद को विशेष रूप से प्रयुक्त किया है क्योंकि यदि राग-द्वेष का सद्भाव है, भले ही किसी जीव धारी के प्राणों का नाश न हो, किन्तु कषायवान् व्यक्ति अपनी

निर्मल मनोवृत्ति का तो घात करता ही रहता है। अतः स्वप्राणघातरूप प्राणव्यपरोपण भी पाया जाता है। स्वप्राणघात महा पाप ही है, हिंसा को दोष तो है ही। यह निश्चित है कि हिंसा और अहिंसा भावों की अपेक्षा अवश्य रखती है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने भी लिखा है "पर पदार्थ के निमित्त से मनुष्य को हिंसा का रंच मात्र भी दोष नहीं लगता, फिर भी हिंसा के आयतनों की निवृत्ति परिणामों की निर्मलता के लिए करनी चाहिए" इससे स्पष्ट होता है कि हिंसा का अन्वय-व्यतिरेक अशुद्ध तथा शुद्ध परिणामों के साथ है। परिणाम/भाव पूर्ण अहिंसा के मुख्य रूप से साधक हैं क्योंकि बिना भाव अहिंसा के द्रव्य अहिंसा का पूर्ण पालक साधक मुक्ति प्राप्त नही कर पाता है, पं. आशाधर जी भो समझाते हैं "यदि भाव के अधीन बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न मानी जाय, तो संसार का वह कौन सा भाग होगा, जहाँ पहुँच मुमुक्षु पूर्ण अहिंसक बनने की साधना को पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करेगा? इससे स्पष्ट है कि लोक को कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जहाँ पूर्णद्रव्य अहिंसक रह सके क्योंकि प्रत्येक स्थान पर जीव राशि है किन्तु साधना के फलस्वरूप साधक पूर्ण रूप से भाव अहिंसा का पालन कर ही परम लक्ष्य सिद्ध कर लेता है।

गृहस्थ भाव अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन और काय स न स्वंय मारता है और न दूसरो से मरवाता है। वह ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं करता/करवाता है, जिससे स्थूलहिंसा की संभावना हो।

अहिंसक गृहस्थ बिना प्रयोजन संकल्पपूर्वक तुच्छ प्राणी को कष्ट नही पहुँचाता है किन्तु धर्म, समाज, परिवार की रक्षा हेतु या किसी विशिष्ट कर्तव्यपालन हेतु न्यायवान् होकर अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग करने से भी मुख नही मोड़ता है। आचार्य सोमदेव ने भी गृहस्थों को विरोधी हिंसा में दोष नहीं कहा। विरोधी हिंसा उस समय होती है, जब अपने ऊपर आक्रमण करने वाले पर आत्मरक्षार्थ शस्त्रादि का प्रयोग करना आवश्यक होता है, जैसे अन्यायवृत्ति से कोई दूसरे राष्ट्रवाला अपने देश पर आक्रमण करे, उस समय अपने आश्रितो की रक्षा के लिए संग्राम में प्रवृत्ति करना, उसमें होने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

जीवन रक्षार्थ शरीर का भरण-पोषण करने के लिए आहार-पान आदि के निमित्त होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।

जो खेती व्यापार आदि जीविका के उचित उपायों को करने में होती है वह उद्योगी हिंसा है।

उन हिंसाओं से एक गृहस्थ किसी भी प्रकार नहीं बच सकता है परन्तु उसे विवेक पूर्वक ही कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक कार्य करने से वह हिंसा से बच सकेगा और अहिंसा का पूर्ण पालन कर सकेगा वह जो भी कार्य करता है या करवाता है उसमें वह पूर्ण सावधानी रखता है कि किसी को कष्ट न हो, किसी की हिंसा न हो, किसी के प्रति अन्याय न हो। विवेक पूर्वक पूर्ण सावधानी रखने पर भी यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा व्रत का भंग नहीं होता हैं। अहिंसा के अभाव में जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहता।

जिनेन्द्र वाणी से शाश्वत सिद्धान्त निकला है कि सभी जीव सुख चाहते हैं। जीना चाहते है। अत: किसी को भी दु:ख देना और मारना अपना ही बुरा करना / कराना है। यदि कोई दूसरे को दु:ख देता या मारता है, तो वह अपने को ही दु:ख देता / मारता है।

प्राणिमात्र की रक्षा करना / अभय देना / सभी को समान देखना अहिंसा है किसी साहित्यकार ने अहिंसा को इन शब्दों में भी प्रस्तुत किया है, "अपने मन, वाणी व शरीर के द्वारा तथा असावधानी से किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्रकार को कष्ट न पहुँचाना और इसी भावना के अनुरूप अपने नित्यकर्म बहुत सावधानी पूर्वक करना अहिंसा है। यह परिणामों को शुद्ध बनाने वाला रसायन है मर्यादा या व्रत का मुख्य द्वार है इसलिये आत्मकल्याणार्थी को अहिंसा आदि व्रतों में दृढ होते हुए संसारी पदार्थो से मोह ममता का त्याग कर मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। यही जीवन में अहिंसा की व्यावहारिकता है।

1. अहिंसा भूतानां जगति विदितं बृहमपरमम्-बृहत्स्वयम्म्-स्तोत्र
2. अहिंसा परमो धर्म-महाभारत

-प्रवक्ता, दि. जैन कालेज, बड़ौत

जैन आचार दर्शन : आर्थिक व्यवस्था के संदर्भ में

-डॉ. जिनेन्द्र जैन

यह एक बुद्धिगम्य तथ्य है कि जब तक योजनाबद्ध और सुनियंत्रित आदर्शमूलक विकास-पथ का सक्रिय अनुसरण मानव-समाज द्वारा न होगा, तब तक वास्तविक उत्कर्ष के उन्नत शिखर पर दृढ़तापूर्वक चरण स्थापित नही किये जा सकेंगे। अनेक भौतिक उपलब्धियों के बाद भी, आज मानव वास्तविक सुख से वंचित है। वास्तविक सुख मानव-जाति में धर्म अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ है और उनका आपस में सम्बन्ध है। इसीलिए धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म-अर्थ का सम्बन्ध संतुलित अर्थव्यवस्था और समाज-रचना का समाजवादी दृष्टिकोण स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म मानव-जीवन की आध्यात्मिक एवं धार्मिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक विकास और उसके रक्षण के लिए भी आवश्यक व्यवस्था देता है। अत: समाज व्यवस्था के सूत्रों के धरातल पर धर्म आर्थिक तत्वों से जुडता है।

जैनधर्म केवल निवृत्तिमूलक दर्शन नहीं है, बल्कि उसके प्रवृत्यात्मक रूप में अनेक ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय होकर धर्म को लोकोपकारी रूप प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से जैन धर्म जहां एक ओर अपरिग्रही, महाव्रतधारी अनगार धर्म के रूप में निवृत्तिप्रधान दिखाई देता है तो दूसरी ओर मर्यादित प्रवृतियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक धर्म की गति-विधियों में सम्यक् नियन्त्रण करने वाला दिखाई देता है। समाज-रचना के समाजवादी दृष्टिकोण में से दोनों (अनगार एवं श्रावक) वर्ग सदा अग्रणी रहे हैं। समाज रचना में राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर यदि जैनदर्शन के अहिंसात्मक स्वरूप को प्रयोग करें तो आधुनिक युग में समतावादी दृष्टिकोण को स्थापित किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने भी आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का

सिद्धान्त आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संचय न करना, शरीर श्रम, स्वादविजय, उपवास आदि के जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है।

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति प्राप्त करना है। समभाव रूप समता में स्थित रहने को ही धर्म कहा गया है।[1] समता धर्म का पालन श्रमण के लिए प्रति समय आवश्यक है[2] इसीलिए जैन परम्परा में समता में स्थित जीव को ही श्रमण कहा गया है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक समभाव की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। समतावादी समाज-रचना के लिए यह आवश्यक है कि विषमता के जो कई स्तर यथा-समाजिक विषमता, वैचारिक विषमता, आर्थिक विषमता, दृष्टिगत विषमता, सैद्धान्तिक विषमता आदि प्राप्त होते हैं, उनमें व्यावहारिक रूप से समानता होनी चाहिए। समतावादी समाज रचना की प्रमुख विषमता आर्थिक क्षेत्र में दिखाई देती है। आर्थिक वैषम्य की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उससे अन्य विषमता के वृक्षों को पोषण मिलता रहता है। आर्थिक विषमता के कारण निजी स्वार्थो की पूर्ति से मन में कषायभाव जागृत होते हैं फलतः समाज में पापोन्मुखी प्रवृत्तियाँ पनपने लगती हैं। लोग और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। मोह राग-द्वेष के कारण ही (जीव) व्यक्ति समाज में पापयुक्त प्रवृत्ति करने लगता है।[3] इसलिए इनके नष्ट हो जाने से आत्मा को समता में अधिष्ठित कहा गया है।[4] समाज में व्याप्त इस आर्थिक वैषम्य को जैनदर्शन में परिग्रह कहा गया है। यह आसक्ति, अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसके लिए जैनधर्म में श्राविक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की है। समतावादी समाज रचना के लिये आवश्यक है कि न मन मे विषम भाव रहें और न प्रवृति में वैषम्य दिखाई दे। यह तभी सम्भव है जब धार्मिक और आर्थिक स्तर पर परस्पर समतावादी दृष्टिकोण को अपनाऐं। प्रत्येक मनुष्य के सामने विकास के समान अवसर एवं साधन उपलब्ध हों- इसे समाजवाद का मूलसिद्धान्त माना गया है। मानव-मात्र की समानता समतावादी समाज की रचना का व्यावहारिक लक्ष्य है। जैन दर्शन में धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थतन्त्र उभरा है, वह इस दिशा में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है। अतः समतावादी समाज रचना के लिए जैन दर्शन के संदर्भ में निम्नांकित

आर्थिक बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है:-

1. अहिंसा की व्यावहारिकता
2. श्रम की प्रतिष्ठा
3. दृष्टि की सूक्ष्मता
4. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन
5. साधनशुद्धि पर बल
6. सर्जन का विसर्जन

1. महावीर ने समता के साध्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा को साधन रूप बताया है। अहिंसा मात्र नकारात्मक शब्द नहीं है बल्कि इसके विधि रूपों में सर्वाधिक महत्त्व सामाजिक होता है। वैभवसम्पन्नता, दानशीलता, व्यावसायिक कुशलता, ईमानदारी, विश्वसनीयता और प्रामाणिकता जैसे विभिन्न अर्थ प्रधान क्षेत्रों में अहिंसा की व्यावहारिकता को अपनाकर श्रेष्ठता का मापदंड सिद्ध किया जा सकता है। अहिंसा की मूल भावना यह होती है कि अपने स्वार्थो, अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाओ जहां तक वे किसी अन्य प्राणी के हितों को चोट नहीं पहुंचाती हों। अहिंसा इस रूप में व्यक्ति संयम भी है और सामाजिक संयम भी।

2. साधना के क्षेत्र में श्रम की भावना सामाजिक स्तर पर समाधृत हुई। इसीलिए महावीर ने कर्मणा श्रम की व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करते हुए कहा कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है।[5] उन्होंने जन्मना जाति के स्थान पर कर्मणा जाति को मान्यता देकर श्रम के सामाजिक स्तर को उजागर किया, जहां से श्रम अर्थव्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

जैन मान्यतानुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब कल्पवृक्षादि साधनों से आवश्कताओं की पूर्ति होना सम्भव न रहा, तब भगवान ने असि, और कृषि रूप जीविकावार्जन की कला विकसित की और समाज की स्थापना में प्रकृति-निर्भरता से श्रम जन्य आत्म-निर्भरता के सूत्र दिए। यही श्रमजन्य

आत्मनिर्भरता जैन परम्परा मे आत्म पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम के रूप में फलित हुई। अत: साधना के क्षेत्र में श्रम एवं पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि व्यक्ति श्रम से परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है। उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्र का जो प्रसंग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालिक का आजीवक मत नियतिवादी है तथा भगवान महावीर का मत श्रम निष्ठ आत्म पुरुषार्थ और आत्मपराक्रम को ही अपना उन्नति का केन्द्र बनाता है।

3. धर्म के तीन लक्षण माने गये हैं-अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों ही दु:ख के स्थूल कारण पर न जाकर दु:ख के सूक्ष्म कारण पर चोट करते हैं। मेरे दु:ख का कारण कोई दूसरा नहीं स्वयं मैं ही हूं। अत: दूसरे को चोट पहुंचाने की बात न सोचूं-यह अहिंसा है। मित्ती में सव्वभूएसु[6] इसे सार्वजनिक बनाना होगा। अपने को अनुशासित करूं-यह संयम है। अत: दुखों से उद्वेलित होकर अविचारपूर्वक होने वाली प्रतिक्रिया न करूँ। इसे परीषह जय भी कहते हैं। तथा दु:ख के प्रति स्वेच्छा से प्रतिकूल परिस्थिति को आमन्त्रित करना तप है। अत: अहिंसा, संयम ओर तप रूप इन तीनों उत्कृष्ट मंगल[7] के प्रति हमारी प्रवृति सम रूप रहे। अपने आपको प्रतिकूल परिस्थितियों की उसता से मुक्त बनाये रखें और सब प्रकार की परिस्थितियों में अपना समभाव बना रहे। क्योंकि "समया धम्मुदाहरे मुणी"[8] अर्थात् अनुकूलता में प्रफुल्लित न होना और प्रातकूलता मे विचितलत न होना समता है। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने पर सामाजिक प्रवृत्ति समतापूर्वक की जा सकती है।

4. आधुनिक समाज की रचना श्रम पर आधारित होते हुए भी संघर्ष और असन्तुलन पूर्ण हो गयी है। जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय प्रारम्भ हुआ। अर्थ-लोभ ने पूंजी को बढ़ावा दिया। फलत: आद्योगीकरण, यंत्रवाद यातायात, दूरसंचार तथा अत्याधुनिक भौतिकवाद के हावी हो जाने से उत्पादन और वितरण में असंतुलन पैदा हो गया। समाज की रचना में एक वर्ग ऐसा बन गया जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी और भौतिक संसाधन जमा हो गये तथा दूसरा वर्ग ऐसा बना जो जीवन-निर्वाह की आवश्यकता को भी पूरा करने में असमर्थ

रहा। फलस्वरूप श्रम के शोषण से बढ़े वर्ग-संघर्ष की मुख्य समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप ले लिया।

इस समस्या के समाधान में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचार धाराएं आयी, किन्तु सबकी अपनी-अपनी सीमाएं हैं। भगवान महावीर ने आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्ण इस समस्या के समाधान के कुछ सूत्र दिए, जिनके संदर्भ में समतावादी समाज की रचना की जा सकती है। ये सूत्र अर्थ प्रधान होते हुए भी जैन धर्म के साधना सूत्र कहे जा सकते हैं। महावीर ने श्रावकवर्ग की आवश्यकताओं एवं उपयोग का चिंतन कर हर क्षेत्र में मर्यादा एवं परिसीमन पूर्वक आचरण करने के लिए 12 व्रतों का विधान किया है। जिनके पालने से दैनिक जीवन मे आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन हो जाता है।

परिसीमन के वे सूत्र है:-

(क) महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त देकर आवश्यकताओं को मर्यादित कर दिया। सिद्धान्तानुसार समतावादी समाज रचना में यह आवश्यक हो गया कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करें। मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समाने अनन्त हैं,[9] और लाभ के साथ ही लोभ के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। क्योंकि चांदी-सोने के कैलश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जायें, तब भी उसकी इच्छा पूरी नही हो सकती[10] अत: इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। अत: मर्यादा से व्यक्ति आवश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है। सांसारिक पदार्थो का परिसीमन जीवन-निर्वाह को ध्यान में रखते हुए किया गया है, वे हैं-

(1) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (2) हिरण्य (चांदी) (3) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (4) सुवर्ण (सोना) (5) धन (अन्य मूल्यवान् पदार्थ) (ढले हुए या घी, गुड़ आदि) (6) धान्य (गेहूं, चावल, तिल आदि) (7) द्विपद (दो पैर वाले) (8) चतुष्पद (चार पैर वाले) (9) कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषधि आदि)

(ख) **भगवान महावीर का दूसरा सूत्र है- दिक्परिमाणव्रत**। विभिन्न दिशाओं में आने-जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या निश्चय करना कि अमुक दिशा में इतनी दूरी से अधिक नहीं जाऊंगा। इस प्रकार की मर्यादा से वृतियों के संकोच के साथ-साथ मन की चंचलता समागत होती है तथा अनावश्यक लाभ अथवा संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। क्षेत्र सीमा की अतिक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। अतः इस व्रत के पालन करने से दूसरों के अधिकार क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की या शोषण करने की वृति से बचाव होता है। इस प्रकार के व्रतों से हम अपनी आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन कर समतावादी समाज रचना में सहयोग कर सकते हैं।

(ग) **उपभोग-परिभोग पारिमाण व्रत-** श्रावकों का एक अन्य व्रत हैं दिक्परिमाणव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर तथा वहां की वस्तुओं से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मर्यादित क्षेत्र के अन्दर और वहां की वस्तुओं के उपभोग (एक बार उपभोग) परिभोग (बार-बार उपभोग) में भी अनावश्यक लाभ और संग्रह की वृत्ति न हो इसके लिए इस व्रत का विधान है। जैन आगम में वर्णित इस व्रत की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगी पूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने का साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने को अवसर और साध न प्रदान कर सकें। व्यर्थ के संग्रह और लोभ से निवृत्ति के लिए इन व्रतों का विशेष महत्व है।

(घ) **दिक्परिमाण एवं उपभोग-** परिभोग परिमाण के साथ-साथ देशावकाशिक व्रत का भी विधान किया है। जिसके अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन उपभोग-परिभोग एवं दिक्परिमाण व्रत का और भी अधिक परिसीमन करने का उल्लेख किया गया है। अर्थात् एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को कभी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र एवं भागरूपभोग्य पदार्थो की मर्यादा कम कर देना, इस व्रत की व्यवस्था मे है। श्रावक के लिए देशावकाशिक व्रत में 14 विषयों का चिन्तन कर प्रतिदिन के नियमों मे मर्यादा का परिसीमन किया गया है। वे 14 विषय है:-

सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहक सयल विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेसु।।[11]

इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकताएं उततरोत्तर सीमित होता है।

उक्त सभी व्रतों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है, वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकताएं इतनी-इतनी सीमित हों। उनका मात्र संकेत इतना था कि व्यक्ति स्वेच्छा पूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्यवश आवश्यकताओं - इच्छाओं को परिसीमित व नियंत्रित करें। जिससे समतावादी समाज का निर्माण किया जा सके।

5. साधन-शुद्धि पर बल देकर भी समतावादी समाज की रचना करने के कुछ सूत्र महावीर ने दिए। अणुव्रतों के द्वारा व्यक्ति की प्रवृत्ति न केवल धर्म या दर्शन के क्षेत्र विकसित होती है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी अणुव्रतों का पालन समतावादी समाज रचना का हेतु साधन माना जाता है। साधन वृद्धि में विवेक, सावधानी और जागरूकता का बड़ा महत्व है।

जैनदर्शन में साधन शुद्धि पर विशेष बल इसलिए भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चारित्र प्रभावित होता है। बुरे साधनों से एकत्रित किया हुआ धन अन्तत: व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ले जाता है और उसके पतन का कारण बनता है। तप के बारह प्रकारों में अनशन ऊनोदरी भिक्षाचर्या और रस परित्याग भोजन से ही सम्बन्धित हैं। इसीलिए खाद्य शुद्धि संयम प्रकारान्तर से साधन शुद्धि के ही रूप बनते हैं।

अहिंसा की व्यावहारिकता की तरह ही सत्याणुव्रत एवं अस्तेयाणुव्रत का साधन-शुद्धि के संदर्भ में महत्त्व है। ये विभिन्न व्रत साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अर्थाजन करने में व्यक्ति को स्थूल हितों से बचना चाहिए। सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए कन्नालाए (कन्या के विषय में) गवालीए (गौ के विषय में) भोमा लिए

(भूमि के विषय में) णासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले तथा (दूडसक्खिजे) झूठी साक्षी न दे। अर्थ की दृष्टि से सत्याणुव्रत का पालन कोर्ट-कचहरी में झूठे दस्तावेजो में भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी में नही हो पाता, क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में अर्थ की प्रधानता होने से असत्य का आश्रय लिया जाता है। जिससे समाज के मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं। इसीलिए सत्याणुव्रत समाज रचना का आधार बन सकता है।

अस्तेय व्रत की परिपालना का साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना, और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना, झूठा जमा-खर्च बताना, जमाखोरी द्वारा वस्तुओं की कीमत घटा या बढ़ा देना ये सभी कर्म चोरी के हैं। इन सभी सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थ व्यवस्था उससे प्रभावित हो रही है। अतः अर्थ व्यवस्था संतुलन के लिए आजीविका के जितने भी साधन है और पूंजी की जितने भी स्रोत हैं, उनका और पवित्र होना आवश्यक है, तभी हम समतावादी समाज-निर्माण कर सकते हैं।

इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने आजीविका उपार्जन के उन कार्यो का निषेध किया है, जिनसे पापवृत्ति बढ़ती है। वे कार्य कर्मदान कहे गये हैं। अतः साधन शुद्धि के अभाव में इन कर्मादानों को लोक में निन्द्य बताया गया है। इनको करने से सामाजिक प्रतिष्ठा भी समाप्त होती है। कुछ कर्मादान हैं जैसे- 1. इंगालकर्म (जंगल जलाना) 2. रसवाणिज्जे (शराब आदि मादक पदार्थो का व्यापार करना) 3. विसवाणिज्ज (अफीम आदि का व्यापार) 4. केसवाणिज्जे (सुन्दर केशों वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय) 5. दवग्गिदावणियाकमेन (वन जलाना) 6. असईजणणेसाणयाकम्मे (असामाजिक तत्वों का पोषण करना आदि)

6. **"अर्जन का विसर्जन"** नामक सिद्धान्त को जैन दर्शन में स्वीकार्य दान एवं त्याग तथा संविभाग के साथ जोड़ सकते हैं। महावीर ने अर्जन के साथ-साथ विसर्जन की बात कही। अर्जन का विसर्जन तभी हो सकता है, जब

हम अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रित एवं मर्यादित कर लेते हैं। स्वैच्छिक परिसीमन के साथ ही अर्जन का विसर्जन लगा हुआ है। उपासक दशांग सूत्र में दस आदर्श श्रावकों का वर्णन है, जिसमें आनन्द, मन्दिनीपित और सालिही पिता की सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन आता है। इससे यह स्पष्ट है कि महावीर ने कभी गरीबी का समर्थन नहीं किया। उनका प्रहार या चिंतन धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरो में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है-

''असविभगीणहु तस्य मोक्खो'' अर्थात् जो अपने प्राप्त को दूसरों में बाटंता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और सवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही जागृत हो सकता है।

भगवतीसूत्र में तुंगियानगरी के श्रावकों का उल्लेख मिलता है जिनके घरों के द्वार अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमंद लोगों का भी समावेश है।

जैनदर्शन में दान और त्याग जैसी जनकल्याणकारी वृत्तियों का विशेष महत्त्व है। आवश्यकता से अधिक संचय न करना और मर्यादा से अधिक जरूरतमंद लोगों में वितरित कर देने की भावना समाज के प्रति कर्तव्य व दायितव बोध के साथ-साथ जनतांत्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था को जन्म देना कही जा सकती है। दान का उद्देश्य समाज में ऊंच-नीच कायम करना नहीं, वरन् जीवन रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुओं का समवितरण करना है। दान केवल अर्थ दान तक ही सीमित नही रहा बल्कि आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान तथा अभयदान इन रूपों में भी दान को जैन दृष्टिकोण से समझाया गया है। अत: अर्थ का अर्जन के साथ साथ विसर्जन करके समाज को नया रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जिन आर्थिक तत्वों का गुम्फन किया गया है, उनकी आज के संदर्भ में बड़ी प्रासंगिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी ने होकर एक-दूसरे की पूरक है।

संदर्भ सूची

1. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते-आचारांगसूत्र, 5/3/45
2. मूलाचार 7/521
3. प्रवचनसार 1/84
4. मोहक्खोहाविहीणो परिणामों अप्पणो हु समो । -प्रवचनसार 1/7
5. उत्तराध्ययनसूत्र 25/33
6. समणसुतं - 86
7. दशवैकालिक 1/1
8. आचारांगसूत्र
9. उत्तराध्ययनसूत्र 9/48
10. उत्तराध्ययनसूत्र 9/48
11. (1) सचित्तवस्तु (2) द्रव्य (3) विगय (4) जूते (5) पान (6) वस्त्र (7) पुष्प (8) वाहन (9) शयन (10) विलेपन (11) ब्रह्मचर्य (12) दिशा (13) स्नान (14) भोजन

प्राकृत एवं जैनगम विभाग
जैन विश्वभारती
लाडनूं (राज.)

●●

जैन विद्वत्ता : ह्रास या विकास

-डॉ. नंदलाल जैन

इग्लैंड से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'जैन स्पिरिट' के पिछले दो अंको में एडिनबरो विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर के 'जैन साहित्य की परंपरा एवं जैन विद्वत्ता के गिरते हुए स्तर' पर दो लेख प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों से जैनों के विषय में पाश्चात्य विचारधारा का अनुमान तो होता ही है, हमें भविष्य के लिये मार्गदर्शन भी मिलता हैं। वे कहते हैं कि जैनों का आध्यात्मिक आगम साहित्य अपनी टीकाओं एवं भाष्यों आदि के माध्यम से पर्याप्त स्वयं-समीक्षात्मक हैं ओर प्रारंभ में यह विद्वान् साधुओं द्वारा लिखा गया हैं। चौदहवीं सदी तक जैन प्राय: अभिजात कुलीन राजा या क्षत्रिय ही थे और साधुओं ने केवल साधु-आचार ही लिखा या साधुत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाला साहित्य लिखा जिसमें 'ज्ञाताधर्मकथा' के समान काव्य-सौदर्य से भरा कथा साहित्य भी है। इसके बाद जैन प्राय: व्यवसायी हो गये और फलत: साहित्य की दिशा भी बदल गई। गृहस्थों के आचार पर भी साहित्य लिखा जाने लगा। लेकिन यह साहित्य आदर्शवादी अधिक है और बहूतेरे अंशो में, नितांत अव्यावहारिक है। इस विवरण का आधार मुख्यत: श्वेतांबर साहित्य ही है। वस्तुत: लेखक का यह कथन सही नही हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में ऋषभ से लेकर महावीर तक श्रावक-श्राविकाओं की संख्या दी गई है, जो साढ़े चार लाख से सदैव ही अधिक रही हैं। इसमें अभिजात वर्ग तो अल्प ही था, अन्य वर्ग ही प्राय: 99 प्रतिशत था। तीर्थंकर इन्हें समुचित चर्या न बताते यह कैसे संभव था? इसीलिये 'उपासक दशा' अंग तो श्रावक के विषय में ही हैं, अन्य आगम ग्रंथो में भी श्रावक की चर्या और व्रतों का वर्णन हैं। हाँ, स्वतंत्र रूप से श्रावकाचार के ग्रंथ नहीं होंगे, पर दिंगबरों में समंतभद्र का रत्नकरंडश्रावकाचार तो प्रसिद्ध हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी 'मानव धर्म' के रूप सामने आया है।

उत्तरवर्ती काल में तो अनेक श्रावकाचार लिखे गये। इनका संग्रह जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुआ हैं।

मध्यवर्ती युग में दिगंबर पंडितों ने, तेरहवीं सदी में आशाधर ने एवं 15-16 वीं सदी में बनारसीदास और टोडरमल ने कुछ साहित्य लिखा। उन्होंने पं. कैलाशचंद्र शास्त्री का नाम लेते हुए यह कहा है कि पिछले सौ वर्षो मे पाठशालाओं में पढ़े हुए दिगंबर पंडितों ने बहुत बौद्धिक काम किया है। लेकिन उनका काम हिन्दी में होने से पश्चिम जगत ने उसे मान्यता नहीं दी। साथ ही, दिगंबर जैनों का अध्ययन भी, श्वेतांबरो के समान गंभीरता से नही किया गया। इसलिये वे प्रायः विस्मृत से बने रहे। तथापि, इन पंडितों ने पश्चिमी विद्वानो के समान समीक्षात्मक एवं स्वतंत्र विचारकता की दृष्टि रही है। तथापि, अनेक प्रश्न ऐसे हैं (जैसे तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता अथवा भक्तामर स्तोत्र के रचयिता) जिनमें सांप्रदायिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है जिसे दूर करना कठिन ही प्रतीत होता हैं, इस दृष्टि से, जैन विद्वानों के साहित्य का अध्ययन गंभीरता से करना चाहिये। फिर भी. विदेशी विद्वान् यह मानते हैं कि जैनों ने दो बातों को प्रमाण माना है- (1) आगम और (2) तर्क। आगमों को तर्क के अनुरूप होना चाहिये, पर प्रमुखता आगमों की है।

लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि जैनों की प्रतिष्ठा एवं सम्मान के लिये बौद्धिक संपदा को समृद्ध करना आवश्यक है। अभी उनकी प्रतिष्ठा का मूल आधार प्राचीन जैन बौद्धिक साहित्य है। उन्होंने वर्तमान जैन विद्वत्ता को पुरातन विद्वानों के समकक्ष नही माना हैं, फलतः उनके गिरते हुए स्तर पर निराशा व्यक्त की है और उसे उन्नत करने के लिये विदेश में विशेषकर लंदन को केन्द्र बनाकर उसे आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने की आशा व्यक्त की है। इसकी चर्चा करते समय उन्होंने पं. सुखलालजी, मालवणियाजी, बेचरदास जी, मुनि जंबू विजय, पुण्य विजय या जिन विजय जी की विद्वत्ता की सराहना की है। इन विद्वानों में इनके समकक्ष किसी दिगंबर विद्वान् या साधु का नाम नही है। यह दिगंबर जैनधर्म के प्रति पश्चिम की अनभिज्ञता ही व्यक्त करती हैं। हमारे यहां भी राष्ट्रपति-सम्मानित कोठिया जी, फूलचंदजी, पं. महेन्द्र कुमार

जी, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ज्योति प्रसाद जी. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, और आचार्य ज्ञानसागर जी के समान पूर्व में और अब आ. विद्यासागर जी, गणिनी ज्ञानमती जी, आ. विशुद्धिमती जी, राष्ट्रपति सम्मानित डॉ. राजाराम, पं. पद्मचंद्र शास्त्री, डॉ. एन. एल. जैन, पं. शिवचरणलाल जी, प्रो. उदयचंद्र जैन के समान अनेक विद्वान् हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि आज की विद्वत्ता--विषय विशेष से संबंधित होती हैं। साहित्य के अनुयोग विभाजन के बाद यह प्रवृत्ति विकसित हुई है। श्वेतांबरों में आचार्य महाप्रज्ञ, डॉ. ढाकी, डॉ. सागरमल जैन आदि की विद्वत्ता को ह्रासशील मानना भ्रामक हैं। अत: लेखों के लेखक को अपना मत संशोधित करना चाहिए।

अपने लेखों में लेखक ने स्पष्ट किया है कि उन्हें न तो दिगंबरों का साहित्य उपलब्ध हैं और न ही पश्चिमी जगत में उन्हें दिगंबरों के विषय मे कोई बतानेवाला हैं। उन्होंने यह भी संकेत दिया कि आज की विद्वत्ता व्यक्ति के करिश्मा और भाषण कलाबाजी के रूप में परिणत हो गई है, जिसे पश्चिमी जगत में उन्हें दिगंबरों के विषय में कोई बतानेवाला है। उन्होनें यह भी संकेत दिया कि आज की विद्वत्ता व्यक्ति के करिश्मा और भाषण कलाबाजी के रूप में परिणत हो गई है, जिसे पश्चिमी जगत् स्वीकार नहीं करता। फिर भी इस बिन्दु पर विद्वानों को विचार करना चाहिये और अपनी विद्वत्ता को शोधमुखी बनाना चाहिये।

इस संक्षिप्त लेखसार से यह स्पष्ट हैं कि पश्चिम में दिगंबर जैन धर्म के परिचय, अध्ययन एवं शोध को प्रोत्साहित करने के लिये निम्न बातें ध्यान मे रखना चाहिये :

1. पश्चिम में दिगंबर जैनधर्म के प्रति भयंकर अज्ञान है।
2. इसका कारण है कि उनका साहित्य अभी पश्चिम में नही पहुंचा है। दिगंबर विद्वान् (जिसे पश्चिम विद्वान् माने) इस विषय में अंग्रेजी मे शोधपत्रादि प्रकाशित नहीं करते और न ही अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में, आर्थिक समस्या के कारण, भाग ले पाते हैं।

3. श्वेताबंरों के प्राय: सभी आगम ग्रंथ अंग्रेजी और कुछ अन्य भाषाओं में अनूदित होकर सर्वत्र पहुंच चुके हैं। दुर्भाग्य से, किसी भी दिगंबर आगमतुल्य ग्रंथो षट्खंडागम, कषायपाहुड, मूलाचार, भगवती आराधना आदि के अनुवाद अभी भी अछूते ही हैं। (आ. कुंदकुंद के ग्रंथ अपवाद हैं) कहते हैं कि षट्खंडागम को मठ से प्राप्त करने और उसके अनुवाद तथा प्रकाशन की प्रक्रिया में प्राय: सौ वर्ष लग गये थे। क्या दिंगबर समाज अब भी इतनी ही जड़ बनी रहेगी? एक बार मैंने एक दिगंबर जैनाचार्य से इस विषय की चर्चा की थी और उन्हें एक जैन विश्वभारती से प्रकाशित सटिप्पण दशवैकालिक भी भेंट किया था, पर मुझे लगता हैं कि उन्होनें उसी मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जिसमें पश्चिमी विद्वानों ने मनोरंजक भाषा में कहा हैं कि दिगंबरों को आगम लोप की मान्यता का आधार उनकी यह मान्यता है कि यदि आगम रहेंगे, तो उनकी कृतियां कौन पढ़ेगा ? यद्यपि यह सत्य नहीं हैं, फिर भी कहीं न कहीं करारी चोट तो है ही। अस्तु, मेरा सुझाव यह है कि दिगंबर संस्थाओं और दानी व्यक्तियों की ओर से यह कार्य जितनी जल्दी हो, प्रारंभ करना/कराना चाहिये एवं उसे पश्चिमी विद्वानों को भेजना चाहिये। इस लेखक ने इस दिशा में अब तक तीन लाख का साहित्य 50 विद्वानों एवं संस्थाओं को भेजा है। यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि धवला, राजवार्तिक आदि ग्रंथों का अनुवाद किया जाय। पर इस कार्य में उसे कहीं से भी सक्रिय प्रेरणा नहीं मिल रही है।

4. यह भी आवश्यक है कि विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में 1-2 विद्वानों को अवश्य भेजना चाहिये जो दिगंबर जैन धर्म के विविध पक्षों पर शोधपत्र/भाषण दे सकें।

5. आजकल साधुवर्ग द्वारा मार्गदर्शित विभिन्न बहु-आयामी बहु-कोटि व्ययी योजनायें चलाई जा रही हैं, जिसके विषय में पर्याप्त अलोचनायें हो रही हैं। फिर भी, उपरोक्त समस्या को ध्यान में रखकर साधुजनों से इस दिशा में भी कुछ मार्गनिर्देश करने के लिये निवेदन करना चाहिये।

श्वेतांबर प्रतिष्ठाओं में आय का 15 प्रतिशत शैक्षिक एवं अकादमिक कार्यों में व्यय किया जाता है। क्या साधुजन तीर्थों की या धार्मिक आयोजनों की आय का कम से कम 10 प्रतिशत भी इस कार्य में उपयोग के लिये प्रेरित नहीं कर सकते? दिगंबर समाज में प्राय: 100 प्रतिष्ठायें प्रतिवर्ष होती हैं जिनकी औसत आय पांच लाख माननी चाहिये। इस आधार पर जैनधर्म के विश्वीय संवर्धन के ऐसे कार्य के लिये प्रतिवर्ष 50 लाख रुपये तक उपलब्ध हो सकते हैं। प्रतिष्ठाचार्य भी इस दिशा में प्रेरणा और योगदान कर सकते हैं।

इस संबंध में मैने अपने एक लेख (जैन गजट, अक्टूबर, 2000) में भी संकेत दिया था। इन लेखों से उसकी पुष्टि होती हैं। एक योजना भी सुझाई थी। पर 'दिगंबरत्व' का अर्थ ही हैं, "ऊर्ध्वदिशा में उडना, जमीन से ऊपर रहना" फिर भी, महत्ता दूसरों के द्वारा आंकी जाती है, यह ध्यान में रखना चाहिये। अंतर्मुखी एवं व्यक्तिवादी धर्म दूसरों के मतों का क्यों सम्मान करे? फिर भी, एक उदाहरण सामने आया है कि दिल्ली के श्री आर. पी. जैन ने अमरीका के एक प्रोफेसर को दिगंबर धर्म के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया और उन्होंने जयपुर में द्यानतराय की पूजाओं पर कुछ काम भी किया है। (महावीर जयती स्मारिका, 2001)। पर इसे अपवाद ही समझना चाहिये। क्या हमारे समाज का नेतृवृंद या साधुवृंद भगवान् महावीर के 2600 वें जन्मोत्सव वर्ष में इस ओर ध्यान देगा?

-जैन केन्द्र रीवॉ, (म.प्र.)